दो शब्द

पिछले मार्च अप्रेल में जब हम लखनऊ-बनारस-इलाहाबाद डा० बड़थ्वाल स्मारक सम्बन्धी दौरे में गये थे तो बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने डा० बड़थ्वाल के संत-सम्बन्धी निबन्धों को काशी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित करने की राय दी थी। हमें उनकी बहुमूल्य राय शिरोधार्य हुई। निबन्ध अब हिन्दी संसार के सम्मुख हैं। इसके लिये बड़थ्वाल स्मारक ट्रस्ट बाबूसाहब का आभारी है।

निबंधों में प्रेम प्रधान निर्गुण—भक्ति काल के संतों की वाणी, उनकी जीवन गाथा तथा उनके दर्शन की व्याख्या है। डा० बड़थ्वाल अपने विषय के अधिकारी थे अतः उनके निबन्धों का अधिकार पूर्ण होना स्वाभाविक है। परख विद्वानों की अपनी है।

डा० बड़थ्वाल ने "जिन संतों के सम्बन्ध में शोध कार्य किया है वे संसार के लिये एक महत्वपूर्ण संदेश छोड़ गये हैं। वह संदेश है एक सीधे सच्चे विश्व धर्म का जो सब जगह,

सब काल और परिस्थितियों के लिये एक है, नित्य, सत्य तथा सनातन है।" संत प्रत्येक युग में "सारग्रहिता" अथवा सब धर्मों का सहानुभूतिपूर्ण सहयोग द्वारा ही विश्व धर्म का साक्षात्कार कराते रहते हैं जिसमें एक मात्र प्रेम का साम्राज्य है। आशा है पाठक डा० बड़थ्वाल के इन निबन्धों में इस "एक मात्र प्रेम के साम्राज्य" को ढूँढ़ने का प्रयत्न करेंगे। साहित्य के अतिरिक्त राजनैतिक दृष्टिकोण से भी संत विचार प्रणाली का अध्ययन आज हमारे लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है क्योंकि संत-विचार प्रणाली के सबसे बड़े प्रचारक निबंधों के रचयिता की राय में आज महात्मा गांधी हैं। गांधीवाद के बिना आज भारतवर्ष कैसे जी सकता है!

अन्त में हमें पूर्ण आशा है कि हिन्दी संसार डा० बड़थ्वाल पुस्तकमाला के इस प्रथम पुष्प को हृदय से अपनायेगा। डा० बड़थ्वाल के अन्य निबन्धों को भी हम शीघ्र प्रकाशित करने जा रहे हैं। स्मारक ट्रस्ट कार्य में हम समस्त हिन्दी-संसार का सहयोग चाहते हैं।

लैन्सडौन
गढ़वाल।
१२-१२-४५

ललिता प्रसाद नैथानी, वकील
मंत्री डा० बड़थ्वाल स्मारक ट्रस्ट कमेटी

भूमिका

डा० बडथ्वाल की मृत्यु से हिन्दी संसार की बहुत बड़ी क्षति हुई। उन्होंने हमारे वाङ्मय के एक विशेष क्षेत्र को, उस क्षेत्र को जिसका सम्बन्ध आध्यात्मिक रचनाओं से है, अपने अध्ययन का विषय बनाया था। इस दिशा में उन्होंने जो काम किया था उसका आदर विद्वत्समाज में सर्वत्र हुआ। यदि आयु ने धोखा न दिया होता तो वह गंभीर रचनाओं का और भी सर्जन करते।

हिन्दी जगत को अभी थोड़े दिन पहिले तक अपने वाङ्मय भण्डार के इस बहुत बड़े अंश के अस्तित्व का पता भी नहीं था। लोग तुलसी, सूर और दूसरे वैष्णव भक्तों की रचनाओं से परिचित थे, कबीर और उनके पश्चाद्वर्ती सन्तों के शब्दों और साखियों को भी जानते थे। वैष्णव रचनाएँ सगुण साहित्य का अंग थीं, सन्तों की रचनाएँ निर्गुण धारा के अन्तर्गत थीं। जहां तक सगुण धारा की बात है, उसका उद्गम बहुत कुछ ज्ञात था। रामानुज, रामानन्द, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, प्रधान वैष्णव आचार्य थे। इनके पहिले श्रीमद्भागवत की रचना हो चुकी थी। यह पुस्तक न तो महापुराण है न उपपुराण है। यह उसके अन्तःसाक्ष्य से सिद्ध है। स्पष्ट ही लिखा है कि सब पुराणों की रचना कर चुकने के बाद व्यासदेव ने इसे लिखा। ऐसा मानने का भी पर्य्याप्त कारण है कि इसकी रचना कहीं दक्षिण में हुई। परन्तु किसी ने और किसी समय इसे लिखा हो, वैष्णव जगत में इसका स्थान अपूर्व है। यदि अपने को हिन्दू कहनेवाला किसी रचना को श्रुति से बढ़कर प्रामाणिक मान सकता है तो वैष्णव वह स्थान श्रीमद्भागवत को देता है। भागवत के कृष्ण ने महाभारत के कृष्ण को पीछे डाल दिया है, रूक्मिणी तो क्या सीता और लक्ष्मी भी राधा के समकक्ष

नहीं बैठ सकतीं। साधारण श्रद्धालु वैष्णव, या अन्य हिन्दू भी भागवत के पीछे जाने का, यह जानने का कि उपासना की यह शैली जो कई अंशों में प्रचलित श्रुति स्मृति सम्मत पद्धतियों से भिन्न ही नहीं विपरीत भी है कैसे चल पड़ी, यत्न नहीं करता। उसके लिये जो कुछ भी पुराना है, वह सनातन है।

कबीर को निर्गुण प्रवाह का मूल प्रवर्तक मानते हैं। गोरख की रचनाओं का कुछ-कुछ परिचय मिलने से यह धारा कुछ और पीछे हट गयी, इसका उद्गम कबीर से कुछ शती पहिले का हो गया। इसकी विशेषता यह है कि यह प्रायः अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती है, इससे भी बढ़कर विशेषता यह है कि इसमें योग को मोक्ष का प्रधान साधन मानते हैं। योग को सीधे योग न कहकर भजन भले ही कहा जाय, योग के उपांगभूत ईश्वरप्रणिधान को भक्ति के नाम से महत्ता भले ही दी जाय, परन्तु मुख्य प्रक्रिया योग की ही है—आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि सभी विद्यमान हैं। काल पाकर प्रतिपादन शैली शास्त्रीय नहीं रही, यम नियम का यथाविधि स्थान नहीं रहा प्रत्याहार का समावेश वैराग्य में हो गया। कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का चलन हुआ जो पातञ्जल साहित्य में नहीं मिलेंगे परन्तु नाम कुछ भी हो, पतञ्जलि के 'यथाभिमतध्यानाद्वा' सूत्र में बताये आदेश का अवलम्बन करके चित्त-वृत्ति को निरुद्ध करने के किसी भी उपाय से काम लिया जाय, योग योग ही है। योग पतञ्जलि या किसी अन्य आचार्य की अपेक्षा नहीं करता। वह हिन्दू-धर्म का प्राण है, श्रुति में ओतप्रोत है। यह शंका उठनी चाहिये थी कि यकायक गोरख या कबीर के समय यह धारा कैसे फूट पड़ी। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है, बिना किसी के सिखाये भी तप्त मानव रो पड़ता है, आर्त जगत का प्रवर्तक किसी अदृश्य सत्ता की खोज में विह्वल होकर दौड़ पड़ता है और कलियों के चटकने

तारों के मुस्कुराने, पक्षियों के मर्मर, चिड़ियों के कल्लोल और समुद्र के गर्जन में अपने को लय करके कवि का हृदय गा पड़ता है। परन्तु योग दीर्घकालीन शिक्षा की अपेक्षा करता है, उसका सम्बन्ध हृदय नहीं मस्तिष्क से है, उसमें पदे-पदे संयम की और संयम करानेवाले की आवश्यकता पड़ती है। वैष्णव भक्त स्यात् यह कह सकता होगा—

"नारीर कोल माछेर झोल बोल हरि बोल"

परन्तु योगी को तो सतत यह स्मरण रखना है—

साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्य्यन्त का काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग ढीलो करे, उलट मन गगन से जमीं आई॥

यह बात लोगों को खटकनी चाहिये थी कि योग की परम्परा कबीर तक कैसे पहुँची, बीच की लड़ियाँ कहां गयीं। संभव है प्रश्न उठा हो परन्तु उत्तर नहीं मिला।

अब यह अज्ञान कुछ दूर हुआ है। ऐसा पता लगता है कि योग की परम्परा वैदिक धर्म से बौद्धों में आयी। बुद्धदेव स्वयं महा योगीश्वर थे, उनके प्रमुख शिष्यों में मौद्गलायन और सारिपुत्र तो महायोगी थे ही दूसरे भी कई अर्हत पद प्राप्त योगी थे। यह धारा अक्षुण्ण नीचे चली। बुद्धदेव के उपदेश लौकिक भाषा में थे, इसलिये योगवाङ्मय भी लोक भाषा में रचित हुआ। निश्चय ही बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार कुछ नये शब्द प्रचलित हुए। उपासक का लक्ष्य मोक्ष या कैवल्य नहीं कहा जा सकता था, उसके लिये निर्वाण ही उचित नाम था। योगी के उच्च मानस स्तर को सत्यलोक जैसा कोई नाम न देकर शून्य कहना ही ठीक जँचता था। कुछ दिन तक शुद्ध रूप में चलकर यह प्रवाह तंत्र के रूप में परिणत हुआ। यह परिवर्तन रोचक है पर यहाँ हम इसकी ओर संकेत ही कर सकते हैं। बौद्ध-धर्म के ह्रास और वैदिक धर्म के पुनरुदय के साथ-साथ तंत्र का कलेवर बदलना स्वाभाविक था। उसने धीरे-धीरे अपने बौद्ध जामे को उतार कर वैदिक जामे को

पहिनने का यत्न किया और इसमें उसको यहाँ तक सफलता मिली कि आज साधारण हिन्दू तन्त्र को भी सनातन मानता है। सुपठित ब्राह्मण भी प्रायः यह नहीं जानता कि तन्त्र ग्रन्थ वेद को प्रमाण नहीं मानते। शुद्ध तान्त्रिक के लिये आगम ही स्वतःसिद्ध प्रमाण है। बौद्ध रूप छोड़ने पर तन्त्र ने तीन दिशाओं में विस्तार पाया। शैवागम के आधार पर लिंगायतादि सम्प्रदाय चले। यद्यपि आज यह वैदिक मत के बहुत पास आ गये हैं, फिर भी इनके ग्रन्थ इनके वेद बाह्य होने की पुकार-पुकार कर घोषणा करते हैं। वैष्णवागम की नींव पर श्रीमद्भागवत लिखा गया। तन्त्र से दूर हटकर वैदिक बन जाने में सबसे अधिक सफलता इस वर्ग को मिली। तीसरी धारा वह है जिसको साधारण बोलचाल में तान्त्रिक कहा जाता है। मेरा तात्पर्य शाक्त समुदाय से है। वैष्णव, शैव या शाक्त, कोई भी तन्त्र हो उसको वैदिक विचारधारा के निकट आने में कोई विशेष कठिनाई नहीं थी। आर्य सदा से शक्ति का उपासक है। 'देवता' के नाम से वह जगत की परिचालक शक्तियों को अपने मन्त्रों के बल से जगाता रहा है। वह स्वधा, आद्या, वाक्, सरस्वती, उमा हैमवती, इड़ा, गायत्री को पहले से जानता था:—उसको यह मानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी कि यही देवतायें तारा, वाराही, छिन्नमस्ता का नाम रूप धारण करके तन्त्र में अवतरित हुई हैं। राधा और कृष्ण का सम्बन्ध लोकदृष्ट्या कैसा भी लगता हो, पर वेद में अम्बिका रुद्र की पत्नी भी हैं और स्वसा (बहिन) भी। दर्शन के स्तर पर यह बातें निबाही जा सकती हैं।

जितना ही तान्त्रिक लोकप्रिय बना, जितना ही उसने अपने को बौद्ध शृङ्खलाओं से छुड़ाया, उतना ही वह अपना तान्त्रिक रूप खोता गया। वैष्णव सम्प्रदाय इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उधर शाक्त सम्प्रदाय ऐसा न कर सका। इनमें बौद्ध काल की बहुत सी बुराइयाँ रह गयीं। वामाचार भ्रष्टाचार का पर्याय हो गया। वामाचार

को लोकदृष्टि से बचाने के लिये तन्त्र ग्रन्थों की रचना भी संस्कृत में हुई। परिणाम यह हुआ कि लोगों की श्रद्धा उधर से हट गयी। तांत्रिक बातों को छोड़कर शुद्ध योग के सहारे नयी धारा फूटी। इसको सिद्ध सम्प्रदाय कहते हैं। सिद्धों में गोपीचन्द, घेरण्ड, टिट्टिभि जैसे कुछ महात्माओं के नाम से लोग परिचित हैं। कालांतर में सिद्धों का स्थान नाथों ने लिया। मत्स्येन्द्र, जालन्धर, गोरक्ष और भर्तृहरि की कीर्ति आज भी लोकविश्रुत है। इन्हीं नाथों के उत्तराधिकारी कबीर आदि सन्त हैं।

सैकड़ों वर्षों के विचारसंघर्ष और विचारविकास के इतिहास का यह निचोड़ स्वभावतः बहुत संक्षिप्त है। जो इसका विस्तृत अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए अब पर्याप्त सामग्री प्राप्य है और होती जा रही है। अब यह प्रमाणित हो गया है कि योग का जो प्रवाह कबीर और उनके परवर्ती सन्तों में मिलता है वह वेदों से निःसृत होकर बराबर चला आ रहा है। उसका स्वाद कुछ बदल गया है; बौद्धों ने तो अपना प्रभाव डाला ही था, वैष्णव भक्तों और मुसलमान सूफियों के विचारों की भी कुछ पुट है। परन्तु मूलधारा अब भी वही है।

आज नाथों और सिद्धों की रचनाएँ उपलब्ध हो रही हैं। इन लोगों को साधारण को जनता को आकृष्ट करना था। अतः इन्होंने भी बुद्धदेव की भांति संस्कृत का तिरस्कार करके लोकभाषा को अपनाया। जो तन्त्रप्रधान प्रदेश था वहीं सिद्ध-सम्प्रदाय पनपा अतः जिन बोलियों में सिद्ध वाङ्मय और उसके पीछे नाथ वाङ्मय रचा गया वह प्राकृत की वह शाखाएँ थीं जो पीछे चलकर हिन्दी कहलायीं। सन्तों ने भी संस्कृत के "कूपगंभीर" की जगह भाषा के बहते नीर का ही आश्रय लिया। इस प्रकार हिन्दी को आध्यात्मिक वाङ्मय का भंडार विशाल और बहुमूल्य है और इसका संचय सैकड़ों तपस्वियों और योगियों के कई शतियों के परिश्रम का फल है। इसका इतिहास भारत का कई सौ वर्षों का आध्यात्मिक इतिहास है।

इस भंडार के रत्नों को हमारे सामने लाने का जिन लोगों ने यत्न किया है उनमें स्वर्गीय बड़थ्वाल जी थे। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनकी कई रचनाएं हैं जिनमें से कुछ अबतक प्रकाशित नहीं हुई थीं। उनके परिश्रम से हमको कैसा लाभ हुआ है, और उनके असामयिक निधन से हमारी कितनी क्षति हुई है इसके प्रमाण में एक वही निबन्ध पर्याप्त है जिसमें उन्होंने रामानन्दजी और उनके गुरु राघवानन्दजी की चर्चा किया है। अकेला यह निबन्ध बहुत सी ग्रन्थियों का सुलझाता है।

इस छोटे से प्राक्कथन के द्वारा मैं अपने दिवंगत् मित्र डाक्टर पीताम्बर बड़थ्वाल के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। मैं आशा करता हूँ कि उनकी इन रचनाओं को पढ़कर लोग इस दिशा में और अधिक अन्वेषण करने और हिन्दी साहित्य के इस अमूल्य अंश के उद्धार करने के लिये प्रोत्साहित होंगे। डा० बड़थ्वाल के प्रति अपनी श्रद्धा दिखलाने का हमारे लिये यह सबसे अधिक श्रेयस्कर मार्ग है।

जालिपादेवी, काशी
श्रावणी २००३

सम्पूर्णानन्द

विषय-सूची

स्वर्गीय
डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
एम. ए., डि. लिट्

योग-प्रवाह

स्वामी राघवानंद और सिद्धांत-पंचमात्रा

हिन्दी साहित्य के तथा मध्यकालीन धार्मिक आन्दोलन के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए स्वामी राघवानन्द का नाम सर्वथा अपरिचित नहीं। स्वामी रामानन्द के गुरु होने के नाते उनका नाम बहुत लोग जानते हैं, किन्तु इतना होने पर भी हमारे लिए अभीतक वे एक प्रकार से हैं नाम ही नाम। नाम के अतिरिक्त उनके विषय में हम जो कुछ जानते हैं वह बहुत थोड़ा है। परम्परागत जनश्रुति से इतना ज्ञात है कि वे रामानुजी सम्प्रदाय के महात्मा थे और योगविद्या में पारङ्गत थे[1]। नाभाजी

१—किंवदन्ती है कि राघवानन्द ने अपनी योगविद्या के बल से अपने अधिक प्रसिद्ध शिष्य रामानन्द को मृत्युमुख से बचाया था। कहा जाता है कि स्वामी रामानन्द पहले किसी अद्वैती गुरु के शिष्य थे जिसने अल्पायु योग को देखकर विशिष्टाद्वैती स्वा० राघवानन्द की योगशक्ति के भरोसे उनकी शरण में रामानन्द को छोड़ दिया। स्वामी राघवानन्द ने रामानन्द को भी पूर्ण योगी बना दिया और जिस समय उनका मारकयोग था उस समय उन्हें समाधिस्थ हो जाने की आज्ञा दी। इससे काल उन्हें छू नहीं पाया और मृत्युयोग टल गया।

ने भी उनका रामानुजी होना कहा है। नाभा जी के अनुसार राघवानन्द भक्ति आन्दोलन के बड़े भारी नेता हुए[१]। उन्होंने भक्तों को मान दिया, चारो वर्णों और आश्रमों को भक्ति में दृढ़ किया और सारी पृथ्वी को हिलाकर (पत्रालम्बित कर) वे स्थायीरूप से काशी में बस गये। हरिभक्तिसिन्धुवेला ग्रन्थ में, जिसके कर्त्ता अनन्तस्वामी बताये जाते हैं[२], उनका दक्षिण से आकर उत्तर में राममन्त्र का प्रचार करना कहा गया है[३]। राघवानन्द ही की शिष्यपरम्परा में होनेवाले मिहीलाल ने (अनुमानतः सत्रहवीं शती में विद्यमान) उनको अवधूतवेश-वाला कहा है[४]।

इस बात में तो सभी स्रोत सहमत हैं कि राघवानन्द प्रसिद्ध रामानन्द स्वामी के गुरु थे, नाभाजी का कथन है :—

१—भक्तमाल ३०।

२—सम्भवतः रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द से अभिप्राय हो।

३—वन्दे श्रीराघवाचार्यं रामानुजकुलोद्भवं।
याम्यादुत्तरमागत्य राममन्त्रप्रचारकम्॥ २॥

ह. भ. सि. वे., मन्त्रप्रकरण, चौथी तरंग

श्री रामटहलदास का कहना है कि यह 'ग्रन्थ रेवासा स्थान में हस्त लिखित धरा है'। श्री रा० टा० संपादित वैष्णवमताब्जभास्कर ··पृ० ५

४—श्री अवधूतवेष को धारे राघवानन्द सोइ।

रिसर्च रिपोर्ट ना० प्र० स० १९०० सं० ५

रामानुज पद्धति प्रताप अवनी अमृत ह्वै अनुसर्यो
देवाचारज दुतिय महामहिमा हरियानन्द ।
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानद ॥
पत्रावलम्ब पृथिवी करि बस कासी स्थाई ।
चारि बरन आश्रम सबहीं को भक्ति दृढ़ाई ॥
तिनके रामानन्द प्रगट विश्व मङ्गल जिन वपु धर्यो ।
रामानुज पद्धति प्रताप··· ३०

नाभा जी के समकालीन और सहतीर्थ जानकीदास के पोता-चेले तथा वैष्णवदास के चेले मिहीलाल (अनुमानतः १७वीं शती) ने भी अपने गुरुप्रकारी नामक ग्रन्थ में लिखा है :—

धनि धनि सो मेरे भाग श्रीगुरु आये हैं
श्री अवधूत वेष को धारे राघवानन्द सो‌ई
तिनके रामानन्द जग जाने कलि कल्यानमई

तथा

श्री राघवानन्द सरन गही जब निज जनु लियो अपनाई ।
श्री रामानंद दास नाम कर भुज पसार लियो कंठ लगाई ॥

सं० १८८० की लिखी कही जानेवाली श्री बालानन्द जी के स्थान जैपुर की दोहाबद्ध परम्परा में राघवानन्द रामानुजाचार्य जी की परम्परा में हर्याचार्य के शिष्य और रामानन्द के गुरु माने गये हैं—

हरियाचारज शिष्य भये तिनके मम जग जान ।

भये राघवानन्द पुनि तिनके भजन सुजान ॥१३॥
श्री रघुवर अवतार ले प्रगटे रामानन्द
कलि मँह जे मतिमन्द अति मुक्त किये नरवृन्द ॥ १४॥

राघवानन्द के अपने विचार क्या थे, किन सिद्धान्तों का उन्होंने प्रचार किया इसका हमें विशेष ज्ञान नहीं है। इसका कोई साधन भी अबतक नहीं था, परन्तु अब एक छोटी सी पुस्तिका प्राप्त हुई है जो राघवानन्द रचित कही जाती है। सम्भव है कि उससे इस सम्बन्ध में हमारा कुछ ज्ञानवर्धन हो सके। इस पुस्तिका का नाम है—सिद्धान्त पञ्चमात्रा। यह दानघाटी, गोवर्द्धन, के हनुमानमन्दिर के महन्त रामानुज सम्प्रदाय के साधु श्रीरामशरणदास जी से प्राप्त हुई है और नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। पुस्तिका की पुष्पिका में लिखा है—"ई [ति] श्री राघवानन्द स्वामी की सीद्धान्त पञ्चमात्रा संपुरणं"। पुस्तिका में छोटे छोटे बारह पृष्ठ थे जिनमें से चार लुप्त हो गये हैं केवल आठ मिले हैं, प्रत्येक पृष्ठ में लगभग ३२ शब्द हैं। इस हस्तलिखित प्रति में न तो निर्माणकाल दिया है और न लिपिकाल।

अन्तःसाक्ष्य से पता चलता है कि पुस्तिका के रचयिता राघवानन्द हों या न हों, उसकी यह प्रति राघवानन्द के समय की नहीं है क्योंकि उसमें कबीर और गोरख के शास्त्रार्थ का उल्लेख है और चतुःसम्प्रदाय के अन्तर्गत रामानन्द सम्प्रदाय का उल्लेख है—

६ अ–१२ ज्ञान गं सटी की वात कबीर गोरप की बीती
१२ सर्गीनाद कान की मुद्रा
७ अ– १ कबीरन गोरप कू जीत्यो
तथा
७ अ– ७ श्री संप्रदाचारी
८ श्री गुरु रामानन्द जी नीमानन्द जी माधवाचारी
विष्णुस्वामी

इससे यह अनुमान होता है कि यह प्रति कबीर के जीवन-काल से भी कम से कम एक शताब्दी बाद की तो अवश्य है क्योंकि तब तक कबीर के सम्बन्ध में वे परम्पराएँ प्रसिद्ध हो गयी थीं जो उनके जीवनकाल में घटित नहीं हुई थीं क्योंकि कबीर और गोरख कदापि समकालीन नहीं थे ।

इसी कारण इसके स्वामी राघवानन्द की रचना होने में भी सन्देह हो जाता है । स्वयं पुस्तिका के अनुसार यह रामानन्द को स्वामी राघवानन्द का उपदेश है—

७ अ० १४ 'श्री राघवानन्द स्वामी उचरन्ते श्री रामानन्द स्वामी सुनन्ते' इससे यह भी स्पष्ट है कि राघवानन्द से अभिप्राय रामानन्द के गुरु ही से है किसी अन्य से नहीं । ऐसी रचनाएँ बहुधा गुरु की न होकर उनके शिष्य अथवा किसी प्रशिष्य की होती हैं । होने को तो केवल कबीर-गोरख गोष्ठीवाला प्रसंग भी पीछे से जुड़ा हुआ हो सकता है किन्तु सावधानी यही चाहती है

कि हम इसे उस समय से पहले की न मानें जिस समय उसमें कबीर-गोरख गोष्ठी का जुड़ना सम्भव हो सकता था। इससे अधिक से अधिक पहले ले जाने पर हम उसे सत्रहवीं शती की रचना मान सकते हैं। पुस्तिका की भाषा भी उसको सत्रहवीं शती का मानने में कोई बाधा प्रस्तुत नहीं करती। कभी कभी परम्परा से चली आती हुई रचनाओं में स्मृतिदोष आदि कई कारणों से अपने आप अर्थात् किसी के सज्ञान प्रयत्न के बिना ही बहुत सी बातें पीछे से जुड़ जाती हैं। प्रस्तुत पुस्तिका में भी ऐसा ही हुआ जान पड़ता है, क्योंकि कबीर और गोरख के समय के विषय में चाहे कबीरपन्थियों को भ्रम हो जाय परन्तु कबीर और उनके दादागुरु राघवानन्द के समय के सम्बन्ध में भ्रम नहीं हो सकता। इस भ्रम में पड़ कर कबीर का महत्व बढ़ाने के उद्देश्य से भी यदि किसी ने जाल किया हो तो अपनी उद्दिष्ट बातों को जाल रचने वाले ने उन्हीं बातों के बीच रक्खा होगा जो उस समय सच्ची समझी जाती होंगी। इससे यह पुस्तिका चाहे अंशतः भी राघवानन्द की रची न हो इतना जानने में तो अवश्य ही हमारी सहायता करती है कि उनकी एक शिष्य प्रशाखा में चलती हुई परम्परानुसार उनकी विचारधारा क्या थी।

पुस्तिका बहुत छोटी है, इस लिये वह जितनी मिली है, सारी इस निबन्ध के अन्तमें दे दी गयी है। वह गद्य में है या पद्य में यह कहना कठिन है। कहीं पर उसमें पद्य सा लगता है फिर वह गद्य

सा ज्ञान पड़ने लगता है। सुभीते के लिए मैंने पुस्तिका को अलग अलग पंक्तियों में विभक्त कर दिया है। जहाँ तुक सा मिलता हुआ दिखायी दिया है वहाँ तुक पर और शेष स्थलों पर भाव आदि के अनुरूप, सुभीते के लिये मैंने प्रत्येक पंक्ति पर अलग अलग संख्या दे दी है। प्रति के पत्र तथा पृष्ठ संख्या का भी संकेत यथास्थान कर दिया गया है। जिस स्थल पर पुस्तिका का एक पृष्ठ समाप्त होकर दूसरा आरम्भ होता है, वहाँ पंक्ति के ऊपर एक सीधी पाई दे दी गयी है।

परन्तु इस पुस्तिका में ठीक ठीक लिखा क्या है यह जानने में कई कठिनाइयाँ हैं। एक तो इसके दो पन्ने अथवा चार पृष्ठ खो गये हैं जिससे उन स्थलों का पूर्व अथवा अपर प्रसंग न जानने के कारण अर्थ समझ में नहीं आता। दूसरे, इसकी बातों का परस्पर सम्बन्ध और क्रम समझना वैसे भी कठिन है और पढ़ते पढ़ते यह भी सदेह होने लगता है कि कहीं सुग्रथित ग्रंथ न होकर यह भी 'अनमिल आखर अरथ न जापू' वाले मंत्रों के ही समान तो नहीं है। फिर शब्द अलग अलग न लिखे जाकर एक साथ सटा कर लिखे गये हैं। इससे यह आशंका रह जाती है कि हो सकता है कि मैंने तोड़ कर जो शब्द पढ़े हैं वे बिल्कुल ठीक वे ही न हों जो लेखक ने लिखे थे। कुछ न कुछ स्थलों पर तो अवश्य ही यह बात हुई होगी। कहीं पर भाषा का प्रयोग भी ऐसा है कि एक से -

अधिक अर्थ की सम्भावना हो जाती है। उदाहरणतः † इस पुस्तक में 'न' ने, नहीं और बहुवचन, तीनों का द्योतक हो सकता है—

"रोरी श्री आचारजन करी" (४ आ, ५)

"सूल धरण सीन्दूर की अवधून घरी" (४ आ, ६)

"कबीरन गोरख कू जीतो" (७ अ, १)

ऐसे स्थलों पर पूर्वापर प्रसंग का ध्यान रखकर ही मैंने अर्थ समझने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह निश्चयरूप से नहीं कहा जा सकता कि जो अर्थ मैंने लिया है, वह सर्वथा सही ही है।

इस पुस्तिका के अनुसार स्वामी राघवानन्द का साधनामार्ग योग और प्रेम का समन्वित रूप है जो पुस्तिका ही के अनुसार सनत्कुमार आदि ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों के द्वारा चलाया गया था—

सनक सनन्दन सनतकुमार
जोग चलायो अपरमपार
प्रेम सुन सनकादिक चारु गुरु भाई
डंड कमडल योग चलायी २ अ ४–७

और

पीता म राखे जोगेसुर मतवाला
उपजे ज्ञान-ध्यान प्रेमरस-प्याला ४ आ, १-२

---

† इस सम्बन्ध में यह बतलाना उचित होगा कि गढ़वाली बोली में खड़ी बोली के कर्ता की 'ने' विभक्ति के स्थान पर न का ही प्रयोग होता है।

यद्यपि स्पष्ट रूप से उसमें पट्‌चक्र इडा पिंगला सुषुम्ना आदि का उल्लेख नहीं है फिर भी सांकेतिक तथा प्रकट रूप से योग की बहुत सी बातें उसमें विद्यमान हैं। योग शब्दावली से वह भरी हुई है—सुन, गगन (२ अ २) शब्द (२ अ २; ६ आ ६) झनकार (झुनकार=अनाहतनाद) (२ अ १) आदि का उल्लेख स्थल स्थल पर है। योगियों के मुहावरे भी कहीं कहीं पर प्रयुक्त हुए हैं, जैसे सेल-आन (६ आ ३) और 'रम गयो' (४ आ) पिण्ड पड़ना (६ आ १०) जटा रखना (२ आ १०) भभूत रमाना (२ आ ११-१२) दण्डकमण्डलु धारण करना (२ आ ७) कानों में मुद्रा पहरना (२ अ) आड़बन्द और कोपीन धारण करना (२ आ १) मृगछाला रखना (४ आ १०) आदि आदि बातें इसमें उल्लिखित हैं जिनका जोगियों के व्यवहार और वेश (भेष) से सम्बन्ध है, और जान पड़ता है कि उनका उल्लेख विरोध या निषेधमय नहीं वरन् अनुरोध या विधिमय है। उसके साथ ही यंद्रियनिग्रह की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, योगी के मन में धैर्य और ब्रह्मचर्य जीवन इसके लिये आवश्यक बताये गये हैं :—

योगेसुर मन में धारण धीर
मुज को आड़बन्द वज्र कोपीन
इस विध जोगी यंद्री जीत (२ अ १०-२ आ १)

सन्तोष जोगी के जीवन की बड़ी आवश्यकता है, उसे धन-विभव

से क्या करना है। अन्त में केवल पाँच हाथ भूमि समाधि के लिए बस होती है:—

तीन हाथ अनदेहा पाँच हाथ कर धरती (४ अ ८)

जब तक शरीर का अस्तित्व है उसकी सामान्य आवश्यकताएँ तो पूरी करनी ही होती है। इसके अनंतर, उसे निश्चिन्त और निर्द्वंद होकर योगमार्ग पर चलना चाहिए।

सादु चालुचाल चालो पन्था
रापो कन्था रहो निचन्ता (६ अ, ९)

इंद्रियजितता के लिये नासिकाग्र दृष्टि का विधान है—

जीह मारी द्रोद्री (ही) कल जीतो जोगी रापो हाथ
नन (? नैन) नासका येक ही हाथ
देख्या चाहे जग न्योहार (१ आ ७-६)

इस क्रिया से जगत का व्यवहार रूप प्रत्यक्ष होता है; यह अनुभव होता है कि परमार्थ रूप से जगत सत्य नहीं है। खेचरी मुद्रा का भी विधान है जिसमें योग ग्रंथों के अनुसार भ्रूमध्यादि साधनी पड़ती हैं—

खेचर कर लो गुर की आण (७ अ, १०)

प्राणायाम से (पवन) के द्वारा शुक्र (पानी) को स्थिर कर के ऊर्ध्वरेता होकर योगी कालवंचणा करता है और अमर हो जाता है—

पवन पानी धरै सों जुग जुग जीव जोगी श्रास (९ आ ६)

सांकेतिकरूप से हठयोग का पूरा विधान पुस्तिका में है। हठयोग का चरमोद्देश्य सूर्यचन्द्र (प्राणापान, इडापिंगला) समागम है जिससे समाधिअवस्था में पहुँचकर नाद, शब्द और ज्योति इस प्रकार त्रिधा योगानुभूति होती है—

चन्द्रसुरज जमीं असमान तारामण्डल भये प्रकास (१ आ ५)
आवुन जोगी यह झनकार
सुन गगन म ध्वजा फराई पुछो सबद भयो प्रकासा
सुन लो सीधो सबद का वामा (२ अ-१—३)

वैष्णवधर्मसंम्बन्धी, बातों का भी इसमें काफी समावेश है। द्वादश* (द्वादशाक्षर मन्त्र-ओं नमो भगवते वासुदेवाय) तिलक, तुलसी की माला और सुमरनी (२ आ-६) का आदर के साथ उल्लेख किया गया है, आरती अर्घ्य और चरणामृत का भी उल्लेख है, और यह उल्लेख यदि उतना आदरपूर्ण नहीं है तो इसका कारण यह नहीं है कि उनका विरोध किया जा रहा है बल्कि इस लिए कि उनके केवल बहिर्मुखी प्रयोग की प्रवृत्ति रोकी जाय। नामस्मरण का इतना महत्व माना गया है कि उसके बिना सब योग और वैराग्य फीके समझे गये हैं. प्रेम की भावना भी (२ आ, ६; ४ आ २) जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, संभवतः योग के ऊपर वैष्णवतत्व ही की पुट है।

---

* द्वादश 'तिलक' का विशेषण भी हो सकता है। उस दशा में उसका अर्थ होगा द्वादशाक्षरमन्त्र का जाप करने वालों का तिलक।

इस प्रकार दो मतों के एक में समन्वित होने से एक बहुत अच्छा परिणाम यह हुआ जान पड़ता है कि दोनों पर उसमें निष्पक्ष दृष्टि भी डाली जा सकती है और दोनों की बहिर्मुख दृष्टि से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव हुआ है। जैसे भीतरी भाव के बिना आरती, अर्घ्य, चरणामृत आदि वैष्णवी पूजा विधान छूछे अर्थात् रिक्त समझे गये हैं वैसे ही योग की क्रियायें भी। जहाँ पुस्तिका में एक ओर लिखा है—

गंगा जमुना के असनान
राय चमेली पुसप बिमान
तुलसी चन्दन सेज प्रमान
सजन आरती अरघ समान
चरणामृत ओर छूछी पूजा और भगवान
(४ अ २-६)

वहाँ दूसरी ओर—

धरम कर आसण बादु (? म्रग) मन म्रगछाला
ग्यान की से (ली) ध्यान कर टीका
योग बैराग नाम मंत्र बिन फीका
(४अ, १०, ४ अ ३४)

भीतरी भाव की महत्ता ने ही नाममंत्र को योगवैराग्य का भी सार बना दिया है। इससे इस समन्वित नवीन मत में सत्य को अधिक महत्व मिला, अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान सत्य को

वास्तविक खोज करने वाले ही को प्राप्त हो सकता है। प्राणों का मोह करने वाले केवल बाहरी बातों में पड़े रहने वाले अहंकारी लोग मृत्यु के मुख में चले जाते हैं, अनन्त नहीं हो सक्ते—

अनन्तपोजी जीववादी मरे
अहंकारी के पौंड पड़े (६ आ ६-१०)

गुरु का महत्व सब आध्यात्मिक पंथों में माना जाता है, योगमार्ग और वैष्णवमत में भी। इस पुस्तिका में भी यही बात है। जगत के आत्यन्तिक दुःख का दूर होना उसके अनुसार सद्गुरु के मिलने ही पर निर्भर है—

सतगुरु मीले तो दुप दालिद्र दूर करे

साधक का दुःखदारिद्र्य शारीरिक कष्ट और पैसे का अभाव नहीं, जगत् का बन्धन है। जिसने गुरु से दीक्षा पाई है वह साधना मार्ग में जैसी सफलता प्राप्त कर सकता है वैसी पोथीपत्रों से ज्ञान प्राप्त करने वाला नहीं। इसी लिये कहा है कि सौ दिन का पंडित एक दिन के मुंडित (दीक्षाप्राप्त) के बराबर है, उसे योगेश्वर की पहुँच का पता नहीं लग सकता:—

सो दीन पीडन्त एक दी का मुडत
पार न पाय योगेश्वर घर का (६ आ ७-८)

सगरा अर्थात् सच्चे शिष्य का लक्षण यह है कि वह गुरु के शब्द का आदर करता है परन्तु जो गुरु के कहने के ऊपर अर्थात् उसे रौंद कर चलता है, उसपर विश्वास नहीं लाता है, वह निगुरा

अर्थात् गुरुहीन ही कहलायेगा और वास्तविक अनुभव ज्ञान को न प्राप्तकर षड्दर्शन अर्थात् वाचनिक ज्ञान ही में पड़ा रह जायगा—

सुगुरा होय तो सबद कमावै
नुगुरा होय तो ऊपर चालै
चलनो पटदरसन मे मो काला (७ अ ११-१३)

मुसलमानी प्रभाव भी पुस्तिका में थोड़ा बहुत दृष्टिगत होता है। टोपा लुगी और अलफी + (बिना बाहों के लम्बे कुरते) का उसमें उल्लेख हुआ है—

टोप की लुगी सेली राजे
गलविच अलफी साकड़ी नाफड़ी (६ अ ५-१०)

जान पड़ता है कि जोगियों ने बहुत कुछ सूफी फकीरों का पहनावा ग्रहण कर लिया था। विनियन के 'कोर्ट पेंटर्स आव दि ग्रैंड मोगल्स' में संगृहीत एक चित्र में (प्लेट १८ और १९) गोरखनाथ और मछन्दरनाथ मुसलमानी फकीरों का सा पहनावा पहने दिखाये गये हैं।

+ अलफी के व्युत्पत्तिसम्मत अर्थ हैं अलिफवाला। उर्दू कोशों में इसके मानी दिये गये हैं, जिस पर अलिफ का चिह्न हो (कफनी इत्यादि) जैसे हिन्दुओं में रामनामी दुपट्टा होता है वैसे ही मुसलमानों में अलफी होती होगी। हिन्दीशब्दसागर में अलफी के माने बिना बाहों का लम्बा कुरता दिया है।

सम्भवतः मुसलमानों के आघात से बचने के लिए योगियों ने ऐसा किया। टेम्सिटरी का कथन है कि मुसलमानी शासकों को प्रसन्न करने और राजनीतिक सुभीतों के लोभ से योगी बौद्धधर्म के क्षेत्र को छोड़ कर ईश्वर शिव के उपासक हो गये* तारानाथ भी कुछ ऐसा ही कहता है। इनसे भी ऊपर का अनुमान पुष्ट होता है।†

ऐसा जान पड़ता है कि समय की आवश्यकताओं के अनुसार मुसलमानों की छुआछूत से बचने के लिये कुछ चतुराई भरे उपाय भी इस समय काम में लाये जाते रहे थे। मुसलमानों के देश में फैल जाने से सम्भवतः छुआछूत के नियमों का पालन पूर्णतः नहीं हो सकता था। इसी से सुअर के दाँतों का आसरा लिया गया—

दंत बराह का मुलक मुलक खेल आय (६ आ ३)

सम्भवतः मुसलमानों की छून से अपवित्र हुई खाद्य सामग्री सुअर के दांतों स्पर्श से शुद्ध की जाती होगी, यह भी सम्भव है कि स्वामी राघवानन्द की इसी प्रकार की शिक्षा को रामानन्द ने आगे बढ़ाया होगा जिससे श्री रामानुजाचार्य के कट्टरतामय संप्र-

* इन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन ऐंड एथिक्स में योगियों पर टेम्सिटरी का लेख।

† शिफनर: गिश टेस बुद्धि-म इन इ डिया १८६९ ई० सेंट पीटर्सबर्ग इ० रि० ८० में गोरखनाथ पर डा० ग्रियर्सन के लेख में उल्लिखित।

दाय से अलग उनका एक सम्प्रदाय बनना आवश्यक हो गया हो।

ऐसा जान पड़ता है कि मध्यकाल की अस्थिर और अशान्त परिस्थितियों में साधुओं को अपना सैनिक संगठन भी करना पड़ा होगा। सिक्खगुरुओं का सैनिक संगठन प्रसिद्ध ही है। अब भी कुम्भ आदि अवसरों पर बड़े बड़े अखाड़ों के साथ शस्त्रों के कुछ करतबाज भी दिखाई देते हैं। सम्भवत इनके मूल पुराने सैनिक संगठन ही हों। सिद्धान्तपञ्चमात्रा में भी कटार और तमचे का उल्लेख है परन्तु असली का नहीं नकली कटार और तमचे का .

काठ की कटारी वेल की तुमाची

नहीं कह सकते कि इसका ठीक ठीक कारण क्या है। सम्भवतः पुराने साधु संगठनों की सैनिक प्रवृत्ति के विरोध में अहिंसा को महत्व देने के लिए ऐसा किया गया हो।

ऊपर की सब बातों का तारतम्य स्थापित करने से यह अनुमान होता है कि जिस समय दक्षिण से आकर श्री यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति का उत्तर में प्रचार हुआ उस समय यहाँ योग सम्प्रदाय का बहुत प्रसार था। इस नवीन भक्ति के प्रसार में योग सम्प्रदाय के बहुतसे लोग आ गये। परन्तु साथ ही इन लोगों ने पुराने मार्ग की बातों को जो उनके अस्तित्व के अभिन्नाश हो गये थे त्यागा नहीं। उन्हें नई परिस्थितियों के साथ समन्वित कर लिया। इसी लिए हमें रामानन्द, कबीर, रैदास आदि उनके उत्तराधिकारियों में योग और भक्ति का पूर्ण समन्वय

मिलता है और यही बात इस पुस्तिका में भी पायी जाती है। 'गुरुप्रकारी' में मिहीलाल ने राघवानन्द को अवधूतवेश वाला कहा है। अवधूत दत्तात्रेय के अनुयायी थे जो पीछे गोरक्षादि के प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत आ गये। गोरखनाथी आदि में भी दत्तात्रेय को मानते हैं। योगियों के ही समान रामानन्द के वैरागी भी अपने को अवधूत कहा करते थे।

यह भी एक अर्थगर्भित तथ्य है कि इस पुस्तिका की प्रस्तुत प्रति एक रामानुजी हनुमानमन्दिर में पायी गई है, जो योग सम्प्रदाय और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के समन्वय का प्रत्यक्ष उदाहरण है। लक्ष्मण के समान हनुमान भी योगमार्ग में आदर्श यती और योगी समझे जाते हैं। इस पुस्तिका में भी (ग)रुड़ हनुमान (४अ १) का उल्लेख हुआ है परन्तु किस अभिप्राय से यह उसके ठीक पहले के पत्रे के खो जाने से पता नहीं चलता। हणमन्त के नाम से कुछ कविता भी बन गई है जो योगियों के साहित्य में प्रचलित है। डा० ग्रियर्सन को रामानन्द का एक पद मिला था जिसमें हनुमान की प्रार्थना* है। ये बातें भी योग वैष्णवमत समन्वय के अनुमान को पुष्ट करती हैं।

---

* ना० प्र० प० नवीन स० भाग ४ पृ० ३४१

सिद्धान्त पंचमात्रा

श्रीमते रामानुजाय नम.

पत्र १ आ—१ ॐ सतशब्दकरी सतजुग व्रता

२ हसता चीणा सतगुरु करता

३ सतगुरु करते बुध अपार

४ कठ सरस्वती धरो समार

५ चंद्र सुरज जमो असमान तारा मण्डल भये प्रकास

६ पवन पानी धरे सो जुग जुग जीव जोगी आस

७ जीह भारी द्रोद्री (? ह्री) फल (? काल) जीतो जोगी रापो हाथ

८ नन (? नैन) नासका येक हो हाथ

२ अ—९ देप्या याह जग व्योहार:

१ आवु न क्षोगी यह भनकार:

२ सुन गगन म धजा फराई पूछो सबद भयो प्रकासा.

३ सुन लो सीधी सबब्द (१ शब्द) को वासा:

४ सनक सनन्दन सनत कुमार:

५ जोग चलायो अपरमपार

६ प्रेम सुन सनकादीक चारु गुरुभाई

७ दण्ड कमण्डल योग चलायो

३ केवे मन की गोदड़ी केते मन का टोप
४ नो मन की गुदड़ी सवा मन का टोप
५ टोप की लुगी सेली राजे
६ कान ठेचरी अद्‌भुत वीराजे
७ चोला खलका पहरी काया री
८ सादु चालु चाल चालो पन्था
९ रापो कन्था रहो नं चन्ता
१० गल बीच अलफी साकड़ी लाकड़ी
११ सादीक कह सीध के तन मन की
६ आ–१२ उन मतंगा हाथे गंगा बगल बीच झोली
१ हथ म सीसा टीकी थली (?)
२ द्वादस तीलक संत जन करते
३ दंत वराह का मुलक मुलक पेल आव
४ काठ की कटारी वेल का तुमाची
५ पी प्याला ओर अमता
६ सवद सवद ले सादु रमता
७ सो दीन का पीडित येक दी का मुडत
८ पार न पाव योगेस्वर घर का
९ अनन्त पोजी जीव वादी मरे
१० अहंकारी के पीड पड़ (? पिंड पड़े)
११ सतगुरु मीलें तो दुख दालीद्र दुर करे

४ तुलसी चन्दन सेज प्रमान
५ सजत आरती अरघ समान
६ चरणामृत और कुट्टी पूजा और भगवान
७ झांझ पंजरी और म्रीदंग वाजा वाज संप घोर धुन
८ तीन हाथ अन देही पाँच हाथ कर भरनी
६ गुरु आस धुनी वीचरन्त धरण कर धरणी

४ आ—१० धरम कर आसण वादु मृगछाला
१ पीता म राजे जोगेसुर मतवाला'
२ उपजो ग्यान ध्यान में रस धाला
३ ग्यान वी सैली ध्यान कर टीका
४ योग वैराग नाम मंत्र विन फीका
५ रोगी श्री आचारज न करी
६ सुल धरण सींदूर की अवधुत न धरी
७ दील कर झोली मन तुमा
८ दिल दरियाव कुवा भरि पीचो सीधाओं रसुवा कुंडी
९ कुतका मार वगल का सादु रम गयो
१० सुन महल मा मनी पाँच कमक···

पत्र ५ — नहीं है

पत्र ६ अ —१···सक कर सींगार
२ जब योगेसुर रूप नोहार

३ केवे मन की गोदड़ी केते मन का टोप
४ नो मन की गुदड़ी सवा मन का टोप
५ टोप की लुगी सेली राजे
६ कान ठेचरी अद्‌भुत चीराजे
७ चोला खलका पहरी काया री
८ सादु चालु चाल चालो पन्था
९ राषो कन्था रहो न चन्ता
१० गल बीच अलफी साकड़ी लाकड़ी
११ सादीक कह सीध के तन मन की
६ आ–१२ उन मतंगा हाथे गंगा बगल बीच झोली
१ हथ म सीसा टीकी थली (?)
२ द्वादस तीलक संत जन करते
३ दंत वराह का मुलक मुलक पेल आव
४ काठ की कटारी वेल का तुमाची
५ पी प्याला ओर अमता
६ सवद सवद ले सादु रमता
७ सो दीन का पीडित येक दी का मुडत
८ पार न पाव योगेस्वर घर का
९ अनन्त षोजी जीव वादो मरे
१० अहंकारी के पीड पड़ (? पिंड पड़े)
११ सतगुरु मीलें तो दुख दालीद्र दुर करे

९ वावन दुवारा भेप के ऊपर भेप
१० पेचरी कर तो गुर की आण
११ सुगरा होय तो सबद कु माने
१२ नुगरा होय तो उपर चाल
१३ चाल तो पटदरसन में मो काला
१४ श्री राघवानन्द स्वामी उचरंते श्री रामानन्द स्वामी सुनन्ते।

इति श्री राघवानन्द स्वामी की सिधान्त पंचमात्रा संपुरणं।

सुरति-निरति

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत)

सुरति तत्त्व संतों के सिद्धान्त और साधन-पथ की भित्ति है। हिन्दी में सुरति का सामान्य अर्थ है स्मृति, याद। तुलसीदास,[१] सूरदास,[२] घनानन्द[३] से लेकर हरिऔध[४] तक अधिकांश में इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में यह शब्द संस्कृत के 'स्मृति' शब्द से निकला है। 'म्' का लोप, 'ऋ' का 'उ'

१—बारबार रघुनाथहिं सुरति कराएहु मोरि।—रामचरितमानस, कांड ७, पद १९। और भी देखिए २,५६; २, ३२५; ३, २१; ५, १४, ६, ६६ (गीता प्रेस संस्करण)।

२—रीती मटकी सीस धरे।

बन की घर की सुरति न काहूँ, लेहु दही यह कहति फिरै।

कबहुँक जाति कुंज भीतर कौं, तहाँ स्याम की सुरति करै॥

—सूर-सुषमा, पृ० १९२, १६०।

३—लागी है लगनि प्यारे, पगी है सुरति तोसों, जगी है बिकलताई, ठगी सी सदा रहै।—सुजान सागर, (ना० प्र० स० संस्करण) पृ०७४, ६३।

४—कंसारी को सुरति ब्रज के वासियों को कराना।

—प्रिय प्रवास, सर्ग ६, छंद ६९।

में परिवर्तन और उसके संसर्ग से 'र' का आगम—इस प्रकार सुरति शब्द सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त और अर्थों में भी इसका प्रयोग मिलता है। सुरति का अर्थ सुष्ठु प्रेम (सु-रति) और सुरति का अर्थ रति-क्रीड़ा (सुरत)। इस प्रकार 'सुरति' अक्षर-समूह में तीन शब्दों का परिवर्तित रूप छिपा है। कवि सेनापति ने तीनों अर्थों में एक ही पंक्ति में इस शब्द का प्रयोग करके[1] यमक का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग स्मृति के अर्थ में किया है। उनका सिद्धान्त है कि सत्तत्व परब्रह्म इसी शरीर में है। परमात्मा और आत्मा तथा आत्मा और जीव में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं। माया के सूक्ष्म-स्थूल आवरणों को धारण कर ब्रह्म ही जीव हो गया है। हमें इस बात का ज्ञान न होने पर भी वह हमारे भीतर अपने पूर्ण प्रकाश से जाज्वल्यमान है। ब्रह्म से शब्द-ब्रह्म, त्रैगुण्य-पञ्चभूत, अन्तःकरण, अहंकार और स्थूल माया—इस प्रकार ब्रह्म के विवर्तन से चराचर सृष्टि का बन्धान खड़ा हुआ और जीव बन्धन में पड़ा। ब्रह्म के ऊपर पड़ी हुई परतें दूसरी दृष्टि से देखने से कोश नाम से अभिहित की जाती हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय

१—सेनापति साँवरे की सुरति की सुरति की सुरति कराइ करि डारत बिहाल हैं। (साँवले कृष्ण की सुन्दर प्रेमवाली रतिक्रीड़ा की स्मृति कराकर राधिका को व्याकुल कर देते हैं।)

कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, आनन्दमय कोश, आत्मा के ऊपर पड़ी हुई परतें ही हैं। कल्पना कीजिए कि एक न बुझने-वाला वृहत् प्रकाश-पुञ्ज है जिस पर एक के ऊपर एक दूधिया काँच और अन्य धातुओं के कई खोल चढ़े हुए हैं जिससे प्रकाश बाहर नहीं दिखाई देता। परन्तु हमारे न देख सकने पर भी प्रकाश तो वहाँ है ही। यही दशा हमारे भीतर के प्रकाश की है। अन्तर केवल इतना है कि उक्त प्रकाश-पिंड के ऊपर से परतें हटाकर हम उसका दर्शन कर सकते हैं किन्तु आत्मा के ऊपर की परतें यों नहीं हटाई जा सकतीं। अब यदि हमारे वश में ऐसी क्रांतदर्शी किरण हो जो घनी से घनी धातुओं में प्रवेश कर उनको भी पारदर्शी बना दे तो इन खोलों के ऊपर उसका प्रयोग कर उन्हें बिना हटाए ही हम इस प्रकाशपुञ्ज का दर्शन करलें। ब्रह्मज्योति के सम्बन्ध में सुरति यही क्रांतदर्शी किरण है जिसके द्वारा जीव इसी जीवन में ब्रह्म-साक्षात्कार करके मुक्त हो सकता है, जीवन्मुक्त हो सकता है।

जीवात्मा जीव होते हुए भी आत्मा है। जीवत्व में उलझा हुआ आत्मा अपने आत्मत्व को कभी त्यागता नहीं। इस माया-जनित विस्मृति में भी जीव को कभी कभी अपने आत्मत्व की स्मृति हो आती है। ऐसे अवसरों पर कभी बिना प्रत्यक्ष कारण के और कभी दुःख-शोकादि से उद्विग्न होकर संसार से उसका जी उचट जाता है। क्या उसे तृप्ति देगा, वह यह नहीं जानता। हाँ,

उसे यहाँ तृप्ति नहीं मिलती। बाल्यावस्था के भोलेपन में दार्शनिक प्रवृत्तिवाले भावुक कवि इस स्मृति की—शुद्ध आत्मज्योति की—झलक देखते हैं। सन्त योगी इसी लिये आध्यात्मिक जागर्ति की तुलना बालकपन से करते हैं और फिर से बालक हो जाना चाहते हैं[1]। बालकपन में 'यहाँ' की विस्मृति और 'वहाँ' की स्मृति रहती है। बालक मानो परमात्मा के पास से सद्यः आता है। गर्भस्थ शिशु की कल्पना सन्त लोग एक तपस्वी के रूप में करते हैं। पूर्व-कर्मों के कारण जीव को गर्भ में आना पड़ता है। वहाँ वह मानो पूर्व-कृत कर्मों के लिये पश्चात्ताप करता हुआ विशुद्ध प्रार्थनामय[2]—परमात्मामय—अस्तित्व रखता है। इसलिये शुद्ध आध्यात्मिक रूप में वह जगत् में अवतरित होता है। शैशव में इसीलिये स्मृति मानो मूल की ओर रहती है। प्रारंभ में 'अहं' का ज्ञान शिशु को नहीं रहता। धीरे-धीरे अहं की भावना उसके भीतर प्रतिष्ठित होती जाती है। यहाँ की स्मृति वहाँ की स्मृति को दबाती जाती है। जो कुछ कर्म वह करता है 'मैंने वह किया,

---

१—कबीर ग्रंथावली पृ० २९, १२। देखिये आगे टिप्पणी ४, पृ० ६७।

२—गरभ कुंडि नर जब तू बसता, उरध ध्यान ल्यौ लाया।
उरध ध्यान मृत मंडलि आया, नरहरि नांव भुलाया॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० २२१, ४०१।

में उसका कर्ता हूँ', इस रूप में यहाँ की प्रत्यभिज्ञा (स्मृति-ज्ञान) उसको होती है। यहाँ की प्रत्यभिज्ञा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वहाँ की स्मृति विस्मृति में बदलती जाती है, और इसके साथ ही कर्मों का बन्धन और माया का अन्धकार भी[१]। माया-जाल के इसी बन्धन को वह अपना घर समझने लगता है। वहाँ की स्मृति सर्वथा दबती जाती है और यहाँ की प्रत्यभिज्ञा उसके समस्त अस्तित्व को घेर लेती है। यहाँ की प्रत्यभिज्ञाएँ ही जीव को उसका जीवत्व देती हैं, जीव को जीव बनाती हैं और दुःख में डालती हैं। इसी लिये राधास्वामी संप्रदाय में जीव को सुरति कहते हैं। जीव 'यहाँ' की सुरति है, 'वहाँ' की सुरति नहीं। चेतना सुरति का मार्ग है। इसलिये विस्तृत अर्थ में मन ही सुरति है[२]। सुरति की गति दोनों ओर है—'इधर' भी, 'उधर'

१—उजला आया वतन से जतन किया कर काल।
चाल भुलानो आपनी यों भया बधन जाल॥

तुलसी, रत्नसागर, पृ० १७।

२—चेतन पैंडा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ।

—दादूबानी भाग १ पृ० ८९।

भीखा! यही सुरति मन जानो। सत्य एक दूसर मति मानो॥

—महात्माओं की बानी, पृ० १९९।

श्री सम्पूर्णानन्द ने 'स्रोत' से 'सुरति' को निकाला है और चित्तवृत्ति-प्रवाह उसका अर्थ किया है। -विद्यापीठ (त्रैमासिक), भाग २, पृ० १३५।

यहाँ की सुरति के अर्थ में 'स्रोत' का प्रयोग धम्मपद में भी हुआ है जिसमें मन के ३६ स्रोत माने गए हैं। आँख, कान, नाक, जीभ, काया

भी; सुलटी भी उलटी भी[1]। 'वहाँ' की सुरति माया में भी आत्मा का शुद्ध रूप है, यहाँ की सुरति आत्मा का माया में बद्ध (जीव) रूप है[2]। राधास्वामियों को छोड़कर अन्य सब सन्तों

(त्वचा), मन, रूप, गंध, शब्द, स्पर्श, धर्म (मन का विषय), आँख का विज्ञान (आँख से होनेवाला ज्ञान) कान, नाक, जीभ, काया (त्वचा) के विज्ञान-भीतरी बाहरी भेद से ये ३६ स्रोत हैं जिनमें मन बहता है—

यस्स छत्तिसती सोता मना पस्सवना भुता।

वाहा वहन्ति दुद्दिट्ठि सङ्कप्पा रागनिस्सिता॥ —२४, ६।

(जिसके छत्तीस स्रोत मन को भली लगनेवाली वस्तुओं में ही लगाते हैं उसके लिये राग निस्सृत संकल्प बुरी धारणाओं को वहन करते हैं।)

सवन्ति सब्बधि सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।

तं च दिस्वा लतं जातं मूलं पञ्ञाय छिंदथ॥ —२४,७।

(ये स्रोत सब दिशाओं में बहते हैं जिससे तृष्णा-रूप लता अँकुरी रहती है। उत्पन्न हुई उस तृष्णालता को देखकर प्रज्ञा से उसकी जड़ को काटो।)

१—उलटा सुलटा दौंह दिसा चालै सुरति सुभाय।

—गरीबदास, "आदि ग्रंथ", अंग ४९, ५४, पृ० १७३।

२—जिसकी सुरति जहाँ रहै, तिसका तहाँ बिसराम।

भावै माया मोह मैं, भावै आतम राम॥

—दादू बानी, भाग १, अंग ६, १०७, पृ० १२।

निपिया अजहूँ सुरति सुख आसा। हूँण न देइ हरि चरण निवासा॥

—कबीर-ग्रंथावली, पृ० ११४, ८२।

ने 'वहाँ' की स्मृति के अर्थ में ही सुरति शब्द का प्रयोग किया है। योग की साधनाओं के द्वारा अथवा अन्य कई अव्यक्त कारणों से कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को कई जन्मों की स्मृति हो आती है। वह भी, चमत्कारी होने पर भी, 'यहाँ' की स्मृति है, 'वहाँ' की नहीं।

मन की बहिर्मुख वृत्ति का कारण 'यहाँ' की प्रत्यभिज्ञा है। 'वहाँ' की सुरति उसे अन्तर्मुख बनाती है। मन के प्रसरणशील स्वभाव को पीछे की ओर मोड़ना ही, सुलटी सुरति को उलटी करना ही,[1] साधना-मार्ग है, प्रभु से सम्मुख रहना है।[2] इसी लिये सन्तों ने स्मरण का विधान किया है। सन्त-मत ही में क्या प्रायः सब साधना मार्गों में किसी न किसी रूप में स्मरण का विधान किया गया है। सत्संग, दीक्षा ग्रहण, जप-तप, योग, सब इसी एक उद्देश्य के लिये किये जाते हैं। ये सब अपनी अपनी दिशा से सुरति को अन्यत्र से हटाकर परम तत्त्व में सिमटाते हैं। जब तक सुरति सिमटकर बिना टूटे सूत्र की भाँति आत्मा में एकतान

१—पालो तन नाम्रु कुछ करतार। बाँधकर चढ़ो सुरत का तार।
मीन मत चढ़ गइ उलटी धार, मकरगत पकड़ा अपना तार॥
—सारवचन, भाग १, पृ० २१३।

२—जे तन माँहें मन धरै, मन धरि निर्मल होइ।
साहिब सों सनमुख रहै, तो फिरि बालक होइ॥
—कबीर-ग्रंथावली, पृ० २९, १२।

भाव से नहीं लगती, तब तक लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती[1]। सत्सग-साधु और गुरु का सग—सुरति को उलटने के लिये अनुकूल परिस्थिति प्रस्तुत करता है। इस वातावरण में नाम-मत्र प्रदान कर गुरु पुरातन स्मृति के टूटे हुए तार को जोड़ता है। साधुओं की, गुरु की सगति में साधक 'वहाँ' की बातें सुनता है जिससे उसके हृदय में 'वहाँ' के लिये प्रीति उत्पन्न होती है और स्मरण में उसका जी लगता है। इसी लिये किसी-किसी ने[2] 'श्रुति', श्रवण से 'सुरति' की व्युत्पत्ति मानी है। जगत् में भी गुण-श्रवण

१—जब लग सुरति सिमटै नहीं मन निहचल नहिं होइ।
तब लग पिव परसै नहीं बड़ी विपति यह मोइ॥
—दादू बानी, भाग १, पृ० ३१, १६।

प्रेम करु तुम नेम हिय मैं सुरति डोरी धुनि।
दास बुल्ला बानि बोलहि आनि तिरवेनि॥—बुल्ला,बानी पृ०८,६।

सुरति सदा स्याबति रहै तिनके मोटे भाग।
दादू पीवै राम रस रहै निरंजन लाग॥
—दादू बानी, भाग १, अग ५, ३० पृ० ९०।

कोटि ग्रथ का अरथ है सुरति ठिकानै राख।
—गरीबदास, 'आदिग्रथ', अग ५४, १८, पृ० २३८।

२—'सरस्वतीभवन स्टडीज', भाग ८ म तारकनाथ सान्याल का लेख 'इडियन फिलॉसफी'।

मात्र से प्रेम (विरह) उत्पन्न हो जाता है, जैसा नल-दमयन्ती को परस्पर हुआ था। और उस क्षेत्र में दर्शन प्रेम के बिना असम्भव है, उसकी बात ही क्या कहनी है[१]। बिना पहले हमारे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुए परमात्मा का दर्शन करना हमारे लिये शक्य नहीं। इसी लिये अपने आत्मत्व के उपपादन के लिये स्मरण का विधान है, क्योंकि स्मरण प्रेम ही का दूसरा रूप है।[२] परमात्मा का स्मरण तो सब करते हैं पर काम पड़ने पर। भगवान् की प्रीति तब सिद्ध हो सकती है जब ऐसा स्मरण नित्य हो[३]। स्मरण अगम से आती हुई सृजन की धारा को—जहाँ तक व्यक्ति का संबंध है—उलटे अगम में पलटना है। स्मरण की चरम सीमा अजपा जाप है जिसमें साधक का एक क्षण भी परमात्मा के प्रेम के बिना नहीं बीतता। उसकी प्रत्येक साँस स्मरण का प्रतिरूप हो जाती है। उसका सारा अस्तित्व परमात्मा की स्मृति-

---

१—देवै किरका दरद का टूटा जोड़ै तार।
दादू साधे सुरति को सो गुर पीर हमार॥
—दादू बानी, भाग १, पृ० ६।

२—सुमिरन मन की प्रीति है।—कबीर-वचनावली, पृ० १२, १११।

३—काम परे हरि सुमिरिए, ऐसा सिमरौ नित्त।
अमरापुर बासा करहु, हरि गया बहोरै वित्त॥
—कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २५०, २३।

मय, सुरति-मय हो जाता है[1]। जिह्वा से राम-नाम कहने से लेकर अजपा-जाप तक सब स्मरण ही है और सुरति की उलटी धार है। अब में वह अवस्था आती है जिसमें सुष्ठु रति निःशेष या निरतिशय रति हो जाती है[2]। सुरति इतनी पूर्ण हो जाती है कि वह स्मृति नहीं रह जाती। परमात्मा के साथ जीवात्मा का संबंध चेतना में स्मृति रूप से नहीं तदात्मरूप से हो जाता है[3]। यह अवस्था 'निरति' कहलाती है[4]। यही वास्तविक ज्ञान की अवस्था

१—सुरति रूप सरीर का पिव के परसे होइ।
दादू तन मन एक रस सुमिरण कहिए सोइ॥
—दादू बानी, भाग १ अंग ४, १६३, पृ० ६३।

श्रुति भी 'स्मृति' को ब्रह्मोपलब्धि का साधन मानती है। छांदोग्य कहता है कि स्मृति प्राप्त होने पर सब ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं—स्मृतिलम्भे सर्व-ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।—७, २७, २।

अट्ठारह अध्याय गीता श्रीकृष्ण के मुख से सुन लेने पर अर्जुन को जो लाभ हुआ वह स्मृति-लाभ ही है जैसा उसने स्वयं अपने मुँह से कहा है—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। १८,७३।

२—जैसे 'सुरति' की एक संभव व्युत्पत्ति 'सुष्ठु रति' है, वैसे ही 'निरति' की निःशेष या निरतिशय रति' भी।

३—तू तूं करता तू हुआ। —कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५, ९।

४—सुरति समाणी निरति मैं निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खूले स्यंभ दुआर॥ २२॥
सुरति समाणी निरति मैं, अजपा माँहै जाप।
लेख समाणा अलेख मैं, यूं आपा माहै आप॥ २३॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४।

है जो सच्चे साधक की उत्सर्पिणी प्रार्थना है[१]। उसमें माया का सर्वथा त्याग और आत्मतत्त्व का पूर्ण प्रतिष्ठापन हो जाता है।[२] काल के चंगुल से छूटकर जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है और आध्यात्मिक आनंद में निमग्न होकर नाचने लगता है[३]। यह सुरति की निरति दशा है। यहाँ 'निरति' शब्द नृत्य का परिवर्तित रूप है और ब्रह्मानंद का द्योतक।

१—तू है तैसी सुरति दे, तू है तैसा खेम॥

—दादू बानी, भाग १, पृ० ३४, ४४।

२—ब्रह्म और माया में, आत्म और अनात्म में, अन्तर करनेवाली निर्णायक शक्ति विवेक कहलाती है। राधास्वामी साहित्य में इसी लिये निरति का अर्थ निर्णय करनेवाली शक्ति लिया गया है—सारवचन, भाग १, पृ० २३७ (आठवीं आवृत्ति)। परमात्मा का वास्तविक ज्ञान निरति में ही होता है, मानो हमें परमात्मा का पता लग गया, खबर मिल गई। इसी लिये डिंगल साहित्य में 'निरति' का अर्थ पता लगना, समाचार मिलना होता है—

राजा, कउ जय पाठवइ ढोलइ निरति न होइ।
मालवणी मारइ तियउ पूगक पथ जि कोइ॥

—ढोला मारू रा दूहा, ९६ दू०।

३—और मार्गों में भी तदात्म-अनुभव में नृत्य भाव माना गया है—

यद्यानन्द समुत्पन्नं नृत्यते मोक्ष-हेतुना। ('द्विकल्प')

—बौद्ध गान ओ दोहा कोष, पृ० ३१, अंतिम पंक्ति।

कुछ निरंजनी सन्तों की बानियां

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत)

मैं आपका ध्यान हिंदी साहित्य की एक उपधारा की ओर आकृष्ट करता हूँ, जिसे हिन्दी साहित्य की निरंजन-धारा कह सकते हैं। जैसा नाम से ही पता चलता है, निरंजन-धारा भी सिद्ध, नाथ तथा निर्गुण धाराओं की ही भाँति आध्यात्मिक धारा है।

हरिदास, तुरसीदास और सेवादास—इन तीन निरंजनियों की बहुत सी बानियाँ मेरे पास हैं। खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास की भी कुछ कविताएँ संग्रहों में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त मनोहरदास, निपटनिरंजन तथा भगवानदास का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज', ग्रियर्सन के 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर', नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-विवरणों तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' में मिलता है। पहले तीन व्यक्तियों की विस्तृत बानियों को देखने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वे एक ही धारा के अंश हैं और उपर्युक्त शेष व्यक्तियों की जो कुछ कविताएँ मिलती हैं उनसे इस धारणा की पुष्टि हो जाती है।

दादूपंथी राघोदास ने नाभादास के 'भक्तमाल' के ढंग पर अपने भक्तमाल की रचना की, जिसकी समाप्ति वि० सं० १७७० =

यह ओरिएंटल कान्फरेंस में अध्यक्ष पद से दिया गया अभिभाषण है। अवतरण में आरंभ का कुछ अंश छोड़ दिया गया है।

१७१३ ई० में हुई। इस में नाभादास के भक्तमाल में छूटे हुए भक्तों का उल्लेख किया गया है। बारह निरंजनी महंतों का कुछ विवरण उसमें दिया हुआ है, जिनमें ऊपर आए हुए हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास सम्मिलित हैं। ये सब राजस्थानी हैं।

इनमें समय की दृष्टि से सब से पहला ग्रंथकार हरिदास जान पड़ता है। राघोदास ने हरिदास को प्रागदास का शिष्य बतलाया है, जिसे छोड़ कर बाद को वह गोरखपंथी हो गया। सुन्दरदास ने भी—जो प्रागदास का बड़ा सम्मान करते थे और जिन्हें वे व्यक्तिगत रूप से[१] भली भाँति जानते थे—हरिदास की गणना गोरखनाथ, कंथड़नाथ और कबीर आदि की भाँति बड़े गुरुओं में की है[२]। इस से यह जान पड़ता है कि संभवतः हरिदास ने

१—पुरोहित हरिनारायण जी—सुन्दरदास ग्रंथावली, भूमिका पृ०७८।

२—"कोउक गोरप कूँ गुरु थापत, कोउक दत्त दिगंबर आदू,
कोउक कथर कोउक भर्थर, कोउ कबीरा के राखत नादू।
कोउ कहै हरदास हमारु जु, यूँ करि ठानत वाद बिवादू,
और सुसंत सबै सिर ऊपर सुन्दर कै उर है गुरु दादू॥"
(पीताबर जी द्वारा सम्पादित सुन्दर विलास—१-५)

दूसरे स्थान पर सुन्दरदास उनका उल्लेख अक्षत् से आध्यात्मिक युद्ध करने में लगे हुए योद्धा के रूपमें करते हैं—

"अगद भुवन परस हरदास ज्ञान गह्यो हथियार रे।"
(पीताम्बर जी द्वारा संपादित सुन्दर-विलास, पृ० ७५०)

प्रागदास से दीक्षा ली थी। सुन्दरदास के उल्लेख करने के ढंग से तो ऐसा भी ध्वनित होता है कि हरिदास कदाचित् दादू (जिनका जन्म १५४४ ई० में हुआ था) से भी पहले हुए। श्रीयुत जगद्धर शर्मा गुलेरी के कथन की भी इससे पुष्टि होती है, जिनके मतानुसार हरिदास ने १५२० और १५४० ई० के बीच अनेक ग्रंथों की रचना की। अपने पंथ में हरिदास हरिपुरुष कहे जाते हैं। -

श्री गुलेरी के अनुसार इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) अष्टपदी जोग ग्रंथ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रंथमाला
(४) हंसप्रबोध-ग्रंथ
(५) निरपख मूल ग्रंथ
(६) राजगुड
(७) पूजा जोग ग्रंथ
(८) समाधि जोग ग्रंथ और
(९) समाम जोग ग्रन्थ

मेरे संग्रह में हरिदास की साखी और पद हैं। हरिदास डींडवाना में रहते थे। राघोदास ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। कहा है—हरिदास निराश, इच्छाहीन, तथा निरंतर परमात्मा में लीन रहने वाले थे। परमात्मा को इन्होंने अपने मन, वचन और कर्म से प्रसन्न कर लिया था। किंतु ये कुछ क्रोधी स्वभाव के भी

जान पड़ते हैं। स्वयं रावो ने इन्हें क्रोध में रुद्र—'हर ज्यूँ कहर'—कहा है। टीका में इनके पीपली, नागोर, अजमेर, टोडा और आमेर जाने का भी उल्लेख है और इनके अनेक चमत्कारों का भी वर्णन है।

गोरख तथा कबीर की वाणियों से ये विशेष प्रभावित हुए थे। इन्होंने इन दोनों की वंदना की है। गोरख को तो ये अपना गुरु मानते हैं।

इनकी रचना बड़ी समर्थ होती थी। इन्होंने सिद्धों तथा जैनों की तीखी आलोचना की है। परमात्मा का इन्होंने नाथ और निरंजन दोनों नामों से गुणगान किया है।

तुरसीदास ने बड़ी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई इनकी विपुल वाणियों का विस्तार इस प्रकार है—४२०२ साखी, ४६१ पद, ४ छोटी छोटी रचनाएँ और थोड़े से श्लोक तथा शब्द हैं। चार छोटे ग्रन्थ ये हैं—

(१) ग्रन्थ चौअक्षरी

(२) करणीसारजोग ग्रन्थ

(३) साध सुलच्छिन ग्रंथ और

(४) ग्रन्थतत्त्व गुणभेद

तुरसीदास बड़े विद्वान् थे। इन्होंने अपनी साखियों के विभिन्न प्रकरणों में ज्ञान, भक्ति और योग का विस्तृत तथा सुगठित वर्णन किया है। ये निरंजन पंथ के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादक,

आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। निरंजन-पंथ के लिये तुरसीदास ने वही काम किया जो दादू पंथ के लिये सुन्दरदास ने। राघोदास ने इनकी वाणियों की प्रशंसा उचित ही की है—'तुरसी जु वाणी नीकी ल्याए हैं।"

यह भी संभव हो सकता है कि राघो का तात्पर्य यहां रचनाओं से न हो कर तुरसी की आवाज से ही हो। 'ल्याए हैं' क्रिया कुछ इसी ओर संकेत करती जान पड़ती है।

राघो के अनुसार तुरसी को सत्यज्ञान की प्राप्ति हो गई थी और अन्य सब वस्तुओं[१] से उनका मन हट गया था। राघो ही के अनुसार तुरसी के अखाड़े में करणी की शोभा दिखाई देती है।[२] तुरसी शेरपुर के निवासी थे।

नागरीप्रचारिणी सभा की खोज में तुरसीदास की वाणी की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख हुआ है जिसमें 'इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है। 'इतिहास समुच्चय' के अन्त में लिखा है कि उसकी प्रतिलिपि वि० सं० १७४५ (१६८८ ई०) में ऊधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य किसी तुरसीदास ने की

१—"तुरसी पायो तत्त ग्यान सों भयो उदास"—१४३।
"तुरसीदास पायो तत्त नीकी बनि आई है"—१५४।

२—"राघो कहै करणी जित शोभित देषी है दास तुरसी की अषारो"—१५३।

थी[१]। यदि यह प्रति तुरसी ही के हाथकी लिखी है और ऐसी कोई बात है नहीं जिससे उसका तुरसी का लिखा होना अप्रमाणित हो, तो हमें तुरसी का समय मिल जाता है। राघोदास ने इनका उल्लेख वर्तमान काल की क्रिया के रूप में किया है। और जान पड़ता है कि राघोदास के भक्तमाल के लिखे जाने के समय तक वे काफी बूढ़े हो चुके थे, क्योंकि उस समय तक वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हो गए थे। इस से भी विदित हो जाता है कि उनका संवत् १७४५ वि० में महाभारत के एक अंश की प्रतिलिपि करना असंभव नहीं। इस प्रकार ये तुरसी, प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास से छोटे, किन्तु समसामयिक ठहरते हैं।

मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी भी बड़े अच्छे कवि थे और अध्यात्म-मार्ग में उनकी बड़ी पहुँच थी। तीनों महन्त थे— मोहनदास देवपुरा के, कान्हड़ चाटसू के और खेमदास शिवहड़ी के।

१—इति श्री महाभारथे इतिहाससमुचये तेंतीसमों अध्याय ॥३३॥ 'इति श्री महाभारथे सम्पूर्ण समात। सवत् १७४५ वृषे- माघ कार्तिक सुदी ७ वार सनीवासरे ॥ नगर गन्धार सुथाने सुभमस्तु लिषत स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ ऊधोदास जी को शिष्य स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री लालदास जी को शिष्य तुलसीदास बाँचे जिसको राम राम।

कान्हड़दास इतने बड़े सत थे कि राघोदास उन्हें अंशावतार समझते थे। राघोदास के कथनानुसार कान्हड़दास इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके थे। वे केवल भिक्षा में मिले अन्न ही का भोजन करते थे। यद्यपि उनको बड़ी सिद्धि तथा प्रसिद्धि प्राप्त थी, किन्तु उन्होंने अपने लिये एक मढ़ी तक न बनवाई। वे 'अविभजनीक' थे और राघोदास का कहना है कि उन्होंने अपनी 'संगति के सब ही निसतारे' थे (पृ० १४०)। ये तीनों—मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी—निश्चय ही राघोदास (वि० सं० १७७०==१७१८ ई०) से पहले हुए हैं।

सेवादास ने भी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई उनकी 'बानी' में ३५३१ साखियां, ४०२ पद, ३६६ कुंडलिया, १० छोटे ग्रन्थ, ४४ रेखता, २० कवित्त और ४ सवैये हैं।

वे सीधे हरिदास निरंजनी की परंपरा में हुए। सौभाग्य से इनकी पद्यबद्ध जीवनी भी 'सेवादास परची' के नाम से उपलब्ध है। इनके चेले (अमरदास) के चेले रूपदास ने उसकी विक्रम सवत् १८३२ (ई० सन् १७९५) में वैशाख कृष्ण द्वादशी को रचना की। रूपदास के कथनानुसार सेवादास की मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस को, संवत् १७६२ वि० में हुई थी। कबीर को इन्होंने अपना सतगुरु माना है। परची उनके चमत्कारों से भरी पड़ी है, जिनका उल्लेख यहां आवश्यक नहीं है।

भगवानदास निरञ्जनी ने, जो नागा अर्जुनदास के चेले थे, निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है—

(१) प्रेम पदार्थ

(२) अमृतधारा

(३) भर्तृहर शतक भाषा

(४) गीता माहात्म्य (१७४० वि०)

(५) कार्तिक माहात्म्य (१७४२ वि०)

(६) जैमिनि अश्वमेध (१७५५ वि०)। कोष्ठकों में दिए हुए संवत् स्वयं ग्रन्थों से लिए गए हैं।

निपट निरंजन का जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार संवत् १६५० वि० (१५९३ ई०) में हुआ था। शिवसिंह ने इन्हें तुलसीदास जी की समता का संत माना है। संभव है इनकी जन्म-तिथि के अनुमान का आधार शिवसिंह के पास के इनके किसी ग्रन्थ का रचनाकाल हो। शिवसिंह के पास इनके 'शांतरस वेदांत' और 'निरंजन संग्रह' दो ग्रन्थ थे। इनमें से पहला अब तक शिवसिंह के एक वंशधर के पास है, किंतु उसके अंतिम पृष्ठ अब नष्ट हो गए हैं। साहित्य के इतिहासों में निपट निरंजन के नाम से दी गई 'सतसरसी' नामक रचना यथार्थ में 'शांतरस वेदान्त' ही है। यह नाम परिवर्तन की भूल स्वयं 'शिवसिंह सरोज' में ही (कम से कम जिस रूप में वह छपा है) किसी भाँति आ गई थी (सरोज पृ० ४३८)।

मनोहरदास निरंजनी ने 'ज्ञानमंजरी', 'ज्ञान वचनचूर्णिका' तथा 'वेदान्त भाषा' की रचना की है। पहली[1] संवत् १७१६ वि० में बनी थी और अंतिम की रचना भी कदाचित् इसी समय के आस पास हुई।

इन सब कवियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को सरल और स्वाभाविक सौंदर्यमय गीतों में विकास दिया है। ये गीत बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। इन कवियों में से कुछ तो, जिनकी विस्तृत वाणियों का अध्ययन मैंने किया है, इस बातका दावा करते हैं कि वे साधना की चरम अवस्था पर पहुँच कर आत्मदर्शन कर चुके थे। निरंजनियों में भी इस अनुभूति तक पहुँचने का मार्ग निर्गुणियों की ही भाँति उल्टा मार्ग या उलटी चाल कहाता है। मन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को—जो जीव को सासारिक बंधनमें डालने का कारण होती हैं—अंतर्मुखी करना, उनके अनुसार, परम आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, सर की प्रक्रिया को प्रतिसंचर में परिणत कर देने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसलिये हरिदास ने उलटी नदी वहाने को कहा है[2] और सत्य के खोजी को उलटा मार्ग पकड़ने का उपदेश दिया है[3]। सेवादास के

१—"संवत् सत्रह सै माही वर्ष सोरहे माहि।
वैशाख मासे शुक्ल पक्ष तिथि पूनो है ताहि॥"
२—"उलटी नदी चलाऊँगे"—पृ० '२५।
३—"उलट पथ संभालि पथी सति सदच सतगुरु कहै"

अनुसार अलख को पहचानने के लिये उलटा गोता लगाना आवश्यक है। ऐसा करने से आत्मा धीरे धीरे गुण, इंद्रिय, मन और वाणी से अपने आप परे हो जायगी[१]। और तुरसी कहते हैं कि जब साधक उलटा अपने भीतर की ओर लौटता है तभी वह अध्यात्म-मार्ग से परिचित होता है[२]।

निरजनियों का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनुप्राणित योग-मार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की सारी साधना पद्धति उसमें विद्यमान है। निरजनियों का उद्देश्य है इड़ा और पिंगला के मध्यस्थित सुषुम्णा को जागरित कर अनाहत नाद सुनना, निरजन के दर्शन प्राप्त करना तथा वकनालि के द्वारा शून्यमण्डल में अमृत का पान करना। जो सोच की डोरी[३] उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग का पूर्ण समन्वय है। साधक को उसमें अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी अभ्यास का भी विधान है, जो गोरख-पद्धति तथा गीता की

१—"सहजि सहजि सब जाहिगा गुण यद्री नाषि।
तू उलय गोता मारि करि अन्तरि अलख पिछाषि ॥"

२—"जब उलय उर अन्तर माही आवै, तब मल ता मव (? ग) की सुधि पावै।"

३—"सुमिरण डोरी साच की सत गुरु दई बताय।"—सेवादास।

भ्रूमध्य दृष्टि के सदृश है । इस साधना पद्धति पर—जिसमें सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वासनिःश्वास को, एक साथ लगाना आवश्यक होता है—निरञ्जनियों ने वार वार जोर दिया है। इसकी अन्तिम अवस्था अजपा जप है, जिसमें श्वास-प्रश्वास के साथ स्वत सतत नाम-स्मरण होने लगता है।

निरंजिनी कविता में प्रेम तत्वका महत्व योगतत्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इन्द्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है। और शमन में प्रेम-तत्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्व की अवहेलना करनेवाले साधको को हरिदास ने खूब फटकारा है[१] । प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भाँति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों में निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है, तभी (प्रियतम परमात्मा से) महामिलन होता है[२] । इन सब निरंजनी कवियो ने प्रिय के

१—"पाच राषि न पेम पीया दसौं दिशा कूँ जाहिं ।
देषि श्रवधू श्रकलि श्रन्धा श्रजहूँ चेतै नाहि ॥"

२—"मैं जन नाच्यो प्रीति यूँ ' ...... '
निकट बसौ न्यारा रहौ एक मन्दिर माहिं माधवे ।
मैं मिलिहूँ कै तन तजौं श्रब मोहि जीवण नाहिं माधवे ॥
प्राण उधारण तुम मिलो
श्रबला भक्ति व्याकुल भई, तुम क्यों रहे रिसाइ माधवे ॥"
—हरिदास ।

विरह से दुःखी प्रिया की भाँति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है[१]। तुलसीदास के अनुसार यही प्रेम-भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना-पथ की प्राण होनी चाहिए। इसके विद्यमान रहने से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किंतु इसके अभाव में हर एक पथ निस्सार है[३]।

निरंजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना मार्ग के अन्त में साधक को

"सुरति सुहागणि सुन्दरी, कन्यौ ब्रह्म भरतार।
आन दिसा चितवै नहीं, सोधि लियो करतार॥"

—सेवादास।

२—"अन्तरि चोट विरह की लगी, नप सिप चोट समाणी।"

—हरिदास।

"कोउ बूझौ रे बांभना, जोसी कहि कब आवै मेरा राम।
विरहिन झूरै दरस कूँ, जिव नाहीं विश्राम॥
ज्यूँ चात्रिग घन कूँ रटै पीव पीव करै पुकार।
यूँ राम मिलन कूँ विरहिनी तरफै बारम्बार॥"

—तुलसीदास।

३—"प्रेम भक्ति बिन जप तप ध्यान, रूखे लगै सहत विग्यान।
तुलसी प्रेम भक्ति उर होय, तब सबही मत साचे जोय॥"

—तुलसी।

अनन्त प्रकाश पुञ्ज की बाढ़ सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है। इस सहजानुभूति के हो जाने पर सभी वाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वय यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु शिष्य की अन्तर्ज्योति को अनन्त सूर्यों के प्रकाश से मिला देता है[1]। सेवादास झिलमिलाती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी में करते हैं[2]। इन्हीं के शब्दों में[3] सहजानुभूति विना घन के चमकने वाली बिजली है, विना हाथ के बजने वाली वीणा है, बिना वादलों के होने वाली अखण्ड वर्षा है। और तुरसी के शब्दों में आध्यात्मिक अनुभूति बहरे का ऐसी गुप्त बात सुनना है जिसमें जिह्वा तथा मुँह काम में नहीं आते। वह लँगड़े का ऐसे पेड़ पर चढ़ने की भाँति है जिसपर पैर वाले नहीं चढ़ सकते। वह अन्धे के प्रकाश को देखने के समान है[4]।

१—"अनन्त सूर निकट नूर जोति जोति लावै।"
२—"नैना माहीं रामजी झिलमिल जोति प्रकास।
त्रिकुटी छाजा बैठि करि को निरखै निज दास।"
३—"बिन घन चमकै बिजली तहा रहे मठ छाय।
हरि सरवर तहा पैलिए जहँ बिण कर बाजे बीण॥
बिन बादल वर्षा सदा, तहा बारा मास अखण्ड।"
४—"बहरा गुझि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय।
तुरसी सो बानी अघट मुख बिन उपजै सोय॥

उपर्युक्त सभी बातों में निर्गुणियों और निरंजनियों में साम्य है। इसीलिये राघ दास ने निरंजनियों को कबीर के से भाव का बतलाया है। किन्तु फिर भी उन्होंने इन्हें कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुणी सन्तों में नहीं गिनाया है और उनका एक अलग ही संप्रदाय माना है। इसका कारण यही हो सकता कि निर्गुणियों और निरंजनियों में इतना साम्य होते हुए भी कुछ भेद अवश्य है।

कबीर ने स्थूल पूजा-विधानों का तथा हिन्दुओं की सामाजिक वर्णव्यवस्था का एकदम खंडन किया है। निरंजनियों ने भी मूर्ति-पूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का परमार्थ दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किन्तु अपने समान ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकने वाले साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिये इन बातों की आवश्यकता भी उन्होंने समझी है। इसीलिये हरिदास ने अपने चेलों को मन्दिरों से वैर अथवा प्रीति रक्खे बिना ही गोविन्द की भक्ति करने का आदेश किया है [१]। तुरस मूर्त से अमूर्त की ओर

पग उठि तरवर चढ़ै सपगै चढ्या न जाय।
तुरछी जोती जगमगै अन्धे कूँ दरसाय॥"

१—"नहिं देवल स्यू वैरता, नहिं देवल स्यौं प्रीति।
किरतम तजि गोविंद भजौ, यह साधाँ की रीति॥"

जाने के लिये 'अमूरति' को 'मूरति' में देखना बुरा नहीं समझते[१] और आचार का भी आखिर कुछ महत्व समझते हैं[२]। यद्यपि निरंजनी वर्णाश्रम-धर्म को तुरसी के शब्दों में शरीर का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं, फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परंपरा से चली आती हुई वर्णाश्रम-धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें वैर है। वे यह अवश्य चाहते हैं कि संसार एक परिवार की भाँति रहे और वर्णभेद ऊँच-नीच के भेद-भाव का आधार न बनाया जाय[३]।

१—"मूरति में अमूरति बसै अमल आतमाराम।
तुरसी भरम विसराय कै ताही कौ लै नाम ॥"

२—"जाके आचारहु नहीं, नहिं विचार अह लेस।
उभै माहिं एक हू नहीं, तौ धृग धृग ताकौ वेस ॥"

३—"तुरसी बरणाश्रम सब काया लौं, सो काया करम को रूप।
करम रहत जे जन भए, ते निज परम अनूप ॥
जन्म नीच कहिये नहीं, जौ करम उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय ॥"—तुरसी।
"जन्म ब्रह्मन भए का भयौ करत कृत चंडार।
बहुरि पिंड परै होयगा, सुद्र घरहु अवतार ॥
हिंदू तुरक एक कल लाई। राम रहीम दोइ नहिं भाई ॥"
—हरिदास।

निरंजनी इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण रामानन्द, नामदेव इत्यादि प्राचीन सन्तों के समकक्ष हो जाते हैं। बिठोवा के मूर्ति के सम्मुख घुटने टेक कर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे[१]। और कहा जाता है कि रामानन्द ने तीर्थों तथा मूर्तियों को जल-पखान मात्र बतलाते हुए भी शालिग्राम की पूजा का विधान किया था। संभवतः यही प्रवृत्ति अन्त में भगवानदास निरंजनी कृत 'कार्त्तिक माहात्म्य,' 'जैमिनि अश्वमेध' सदृश पौराणिक ढङ्ग के ग्रंथों में प्रतिफलित हुई।

निरंजन पंथ में प्रेम तथा योग-तत्व संभवतः रामानन्द या उन्हीं के सदृश किसी संत से आए हैं। ये प्रेम तथा योग-तत्त्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्रायः सब शिष्यों की बानियों में पाए जाते हैं, इस लिये इनका मूल स्रोत गुरु में ही ढूंढ़ना चाहिये। इस बात का समर्थन रामानन्द कृत कहे जानेवाले 'ज्ञान-तिलक' और 'ज्ञान-लीला' नाम के छोटे ग्रंथों से तथा 'सिद्धांतपटल' से भी होता है, जिसके अनुसार, राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिये हैं उन में योग का निश्चय रूप

१—फर्कुहर—आउटलाइन आव् दि रेलिजस लिटरेचर इन इंडिया, पृ० ३००।

से समावेश है[१]। महाराष्ट्र जनश्रुतियों में रामानन्द का संबंध ज्ञानदेव के नाथपंथी परिवार से जोड़ा जाता है। अपने को नाथपंथी बतलाने वाले उद्धव और नयन भी रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द के द्वारा रामानन्द से अपनी परंपरा आरम्भ करते हैं।

नाभादास जी ने रामानन्द के बारहों शिष्यों को दशधा भक्ति का 'आगर' कहा है। किंतु यदि तुरसीदास ने अपनी वाणी में स्पष्ट रीति से इसकी व्याख्या की न की होती तो दशधा भक्ति से क्या अभिप्राय है, हम यह भी न समझ पाते। इस व्याख्या को संक्षेप में यहाँ पर दे देना अनुचित न होगा।

इस व्याख्या में तुरसीदास ने सगुणी नवधा भक्ति को अद्वैत दृष्टि के अनुकूल एक नवीन ही अर्थ दे दिया है। श्रवण[२], कीर्तन और स्मरण[३] तो निर्गुणपक्ष में भी सरलता से मे ग्रहण किये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त तुरसी के

१—"शब्दसरूपी श्री गुरु गमधानद जी ने श्री रामानद जी कूँ सुनाया भर भंडार पाया जहँ निकुटी अस्थान जहा बसे—श्री सालिग्राम।"
—अमरबीज मत्र १७।

२—"सार सार मत स्रवन सुनि, सुनि सारे रिद माहि।
ताही को सुनिबौ सुफल, तुरसी तपति सिराहि॥"

३—"तुरसी ब्रह्म भावना रहै, सार रहावै सोय।
यह सुमिरन सतन कह्या, सार भूत मजोय॥"

अनुसार. पाद-सेवन[1] हृदय-कमलस्थित ज्योति-स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना है; अर्चन[2] समस्त ब्रह्मांड में ॐ का प्रतिरूप देखना है; वंदन[3] साधु गुरु और गोविंद दोनों को एक समझकर उनकी वंदना करना है; दास्य[4] भक्ति हरि, गुरु और साधु की निष्काम सेवा करना है; सख्य[5] भक्ति भगवान से बराबरी का अभिमान न

१—"तुरसी तेजपुंज के चरन में, हाद चाम के नाहिं।
वेद पुरानिन बरनिए, रिदा कँवल के माहिं॥"

२—"तुरसी प्रतिमा देखि कै, पूजत है सब कोय।
ब्रह्मांड ब्रह्म को पूजिवौ, कहौ कौन विधि होय॥
तुरसिदास तिहूँ लोक में, प्रिमा (प्रतिमा) ॐकार।
वाचक निर्गुन ब्रह्म कौ, वेदनि बरन्यौ सार॥"

३—"गुरु गोविंद मतनि विषै, अभिन भाव उपजाय।
मंगल सूं वंदन करै, तौ पाप न रहई काय॥"

४—"तुरसी बनै न दास कूँ, आलस एक लगार।
हरि गुरु साधू सेव में, लगा रहै यकतार॥
तुरसी निहकामी निज जनन की, निहिकामी हो मोय।
सेवा निति किया करै, फल वासना न पोय॥"

५—"बराबरी की भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आनै।
अपनौ मित्र जानिवौ राम, ताहि समर्पै अपना धाम॥"
तुरसी त्रिभुवन नाथ कौ, सुहृत सुभाव जु एह।
जैनि केनि ज्यूँ भज्यो जिनि, तैसें ही उधरे तेह॥"

होकर सब मार्गों से गोविंद की प्राप्ति हो सकने के विश्वास के साथ भगवान् को मित्र समझने की भावना है और आत्मनिवेदन[1] दैन्य का भाव है। तुरसी का कथन है कि यह नौ प्रकार की भक्ति सगुण नवधा भक्ति से भिन्न है और जीव को प्रवृत्ति-मार्ग की ओर न ले जाकर निवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाती है[2]। इस नवधा भक्ति की ससिद्धि होने पर उसके उपरांत सर्वश्रेष्ठ प्रेमा-भक्ति[3] की प्राप्ति होती है, और इस प्रकार नाभादास जी की दशधा संज्ञा की सार्थकता प्रकट होती है।

जो थोड़ा सा समय मेरे लिये प्रयोजित था उसके भीतर अन्य बातों के साथ मैंने निरंजनी धारा की हिंन्दी साहित्य को क्या देन है, इसकी रूप रेखा मात्र दिखाने का प्रयत्न किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे संतों के हृदय से निकली हुई सहज, निर्मल भावधारा से हिंदी साहित्य खूबसंपन्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप मध्ययुग में हिंदी एक प्रकार से उत्तर भारत की आध्या-

---

१—"तुरसी तन मन आतमा, करहु समरपन राम।
जाकी ताहि दे उरन होहु, छाड़हु सकल सकाम॥"

२—"एक नौधा निरवरति तन, एक परवरति तन जान।
तामैं अतिकन रूपना, तारा करहि बषान॥"

३—"तुरसी यह साधन भगति, तब लौं सांची होय।
तिन प्रेमा फल पाइया, प्रेम भुक्ति फल जोय॥"

त्मिक आदान-प्रदान की भाषा बन गई। अतएव इन संतों के प्रति जितनी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोड़ी है।

खोज से नवीन सामग्री के प्रकाश में आने पर इस प्रकार की अन्य अंतर्धाराओं के दर्शन होंगे। अलग अलग नए रचयिताओं का पता चलने से भी विभिन्न धाराओं की ओर उनके द्वारा समस्त साहित्य की संपन्नता प्रकट होगी।

एक किंवदती के अनुसार गहनीनाथ ने निवृत्तिनाथ के पितामह गोविंदपत को भी दीक्षा दी थी। एक एक पीढी के लिये २५, २५ वर्ष लें तो मानना चाहिए कि सवत् १२८० के लगभग गहनीनाथ इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि लोग उनके शिष्य होने लग गए थे। गोरखनाथ और गहनीनाथ के समय में एक पीढी के उपयुक्त २५ वर्ष का अतर मानें तो उनका समय सवत् १२५५ निकलता है। लगभग यही समय (ईसवी सवत् १२०० अर्थात् विक्रमी सवत् १२५७) डाक्टर फर्कुहर ने भी गोरखनाथ का माना है।

परन्तु इस समय को ठीक मानने में एक अड़चन पड़ती है। ग्यारहवें शतक के आरभ के लिखे हुए बौद्ध तत्रों में गोरखनाथ का उल्लेख मिलता है। अब यदि तेरहवें शतक के मध्य को गोरखनाथ का समय मानें तो इतने पहले गोरखनाथ के उल्लेख का कोई समाधान नहीं हो सकता। अतएव यह मत भी ठीक नहीं जँचता। जान पडता है, कि गहनीनाथ ने केवल अपने पथ के प्रवर्तक होने के नाते गोरखनाथ को गुरु कहा है। गुरु ईश्वर का पर्य्याय भी होता है और इसमें तो सदेह नहीं कि गोरखनाथ उस समय तक ईश्वर माने जाने लगे थे।

नेपाल की बौद्ध जनश्रुतियो के अनुसार, जो किसी प्रकार उस देश के राजाओं की वशावली में सम्मिलित कर ली गई है, गोरखनाथ मछदरनाथ के दर्शनों की उत्कठा से राजा नरेंद्रदेव

के समय में नेपाल गए थे। नरेंद्रदेव का समय तो निश्चित है। चीनी यात्री वांग ह्यूत्से राजा नरेंद्रदेव का अतिथि हुआ था। इस यात्री ने सं० ७२२ (ई० ६६५) में अपना यात्रा-विवरण लिखा। इससे नरेंद्रदेव का भी यही समय होना चाहिए। परंतु क्या इसी से यह भी मान लिया जाय कि गोरखनाथ का भी यही समय है? कई विद्वान् और उनके साथ डा० शहीदुल्ला यह मानते हैं। पर वास्तव में इन जनश्रुतियों को शब्दशः इतिहास मानना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि इनकी प्रवृत्ति प्रसिद्ध घटनाओं को बहुत प्राचीन समय में ले जा रखने की है। विक्रम से पूर्व १६३ संवत् (ई० पू० २५०) में अशोक ने लुंबिनी आदि तीर्थों को देखने की आकांक्षा से नेपाल की यात्रा की थी। परंतु इन श्रुतिपरंपराओं के अनुसार यह घटना कलिगत संवत् १२३४ (ईसा से पूर्व १८६७) से लगभग २० पीढ़ी पहले किराती राजा स्थूंको के समय में हुई। इसी प्रकार जगद्गुरु शंकराचार्य का दिग्विजय करते हुए राजा वृषदेव के समय में नेपाल जाना कहा गया है। जगद्गुरु शंकराचार्य का समय विक्रम के नवें शतक के उत्तरार्ध और कुछ दशवें शतक के आरंभ में पड़ता है जब कि राजा वृषदेव का समय इतिहासवेत्ताओं ने पाँचवें शतक का आरंभ माना है। यही दशा गोरखनाथ और मछंदरनाथ की नेपाल-यात्रा की भी हुई होगी।

विक्रमीशिला के विहार की स्थापना की थी। 'वज्र' उपाधिधारी भिक्षु कामुकता को निर्वाण का साधन मानकर दुराचार में पड़े हुए थे। ग्यारहवें शतक के आरंभ में बौद्धों का तांत्रिक संप्रदाय अपने मध्याह्न में था। यहाँ से उसका ह्रास आरंभ हुआ। जान पड़ता है कि मछंदरनाथ इन्हीं तांत्रिकों में से था। जिस समय नेपाल में मछंदरनाथ और गोरखनाथ का आगमन हुआ उसी समय हिंदू धर्म के प्रसार के उद्देश्य से एक और ब्राह्मण के वहाँ जाने का उल्लेख मिलता है। यह ब्राह्मण शंकराचार्य का अवतार माना जाता था। क्या यह ब्राह्मण और गोरखनाथ एक ही व्यक्ति के साधारण और लोकोत्तर रूप तो नहीं हैं ? यह बात कम से कम असंभव तो नहीं मालूम पड़ती। और जो हो, गोरखनाथ पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव अवश्य पड़ा था। उसने अपने गुरु को उसका उपदेश दिया और उससे विलासितामय जीवन का परित्याग कराया। स्थान स्थान पर गोरखनाथ की रचनाओं में इस बात का उल्लेख है—

चारि पहर आल्यंगन निंद्रा, संसार जाइ विपिया वाही।
उभय हाथौं गोरखनाथ पुकारै, तुम्हें भूल महारी माछा भाई ॥

❀ ❀ ❀

वामा अंगे सोइवा जम चा भोगिवा, संगे न पिवणा पाणी।
इम तो अजरावर होइ मन्दिर, बोल्ये [illegible] वाणी ॥

❀

छाँटै तजौ गुरु, छाँटै तजौ, तजौ लोभ माया।
आतमा परचै राखौ गुरुदेव, सुन्दर काया॥

❀ ❀ ❀

एतैं कछु कथीला गुरु, सर्वे भैला भोलै।
सर्वे कमाई खोई गुरु, बाघनी चे पोलै॥

❀ ❀ ❀

गोरखनाथ ने अपने गुरु के पन्थ के सुधार का काम भीतर से किया। उसने बाहर से आक्रमण नहीं किया। बल्कि पुराने शब्दों में नई शिक्षा दी। इसलिये उसका नयापन सहसा खटका नहीं। कई बौद्ध तंत्रों में गोरखनाथ और उसके साथी अन्य नाथों की महिमा गाई गई है। नाथों का प्राचीन धर्म से स्पष्ट भेद तभी मालूम हुआ जब मुसलमानों ने नाथों को ईश्वरवादी समझकर उनके साथ छेड़छाड़ न की किंतु बौद्ध-तांत्रिकता का बंगाल से उन्मूल कर दिया। तिब्बत में यह परंपरागत जनश्रुति है कि कनफटानाथ पहले बौद्ध ही थे परन्तु मुसलमानों के बंग विजय करने पर वे मुसलमानों का विरोध न दिखाने के उद्देश्य से ईश्वर (शिव) के उपासक हो गये। तारानाथ ने अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख किया है। यह द्वेषमूलक जन-श्रुति भी इसी तथ्य की ओर सकेत करती है। मुसलमानों की बंग-विजय का समय १२५६ से १२६० संवत् है। बौद्धों और नाथों में जो भेद इस समय स्पष्ट हुआ, उसका आरंभ यदि हम २०० वर्ष

पहले नेपाल में मानें तो अनुचित न होगा। इससे भी गोरख-नाथ का समय ग्यारहवें शतक का मध्य ही ठहरता है।

इन सब बातों से हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि गोरख-नाथ का समय संवत् १०५० के आसपास है।

अब प्रश्न यह उठता है कि गोरखनाथ की जो रचनाएँ उप-लब्ध हुई हैं वे इतनी पुरानी हैं या नहीं? इसमें तो सन्देह नहीं कि इनमें प्राचीनता के चिह्न हैं। उदाहरण के लिये—

आओ माई धरि धरि जाओ गोरख बाल भरि भरि खाओ।
झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद बिवाद॥
पवन गोटिका रहणि अकास महियल अंतरि गगन कविलास।
पयाल नी डीबी सुन्नि चढ़ाई कथत गोरखनाथ मछींद्र बताई॥

इसमें ससिहर, महियल, पयाल इसकी प्राचीनता के द्योतक हैं। इसी प्रकार, अम्हें, तुम्हें आदि सर्वनाम भी इनकी रचनाओं में मिलते हैं। हि विभक्ति प्राकृत और अपभ्रंश में प्रायः सभी कारकों का काम देती थी। इनकी रचनाओं में वह इ के रूप में विद्यमान है। 'जल कै संजमि अटल अकास' में के 'संजमि' में वह करण की विभक्ति की स्थानापन्न है और 'कौणे चेतनि मन उनमनि रहै' में के 'चेतनि' में अधिकरण की। परंतु सब रच-नाओं को पढ़ने से जो प्रभाव पड़ता है उससे वे उतनी प्राचीन नहीं जान पड़तीं जितनी अर्वाचीन।

प्रसिद्ध खोजी महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध-गान नाम से सहजिया सम्प्रदाय के कुछ गीतों का संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें से कानपाद का एक पद लीजिए—

आलिए कालिए बाट रुंधेला, ता देखि कान विमन भईल।
कान्हु कहिं गइ करिब निवास, जो मन गोअर सो उआस॥
ते तिनि ते तनि तिनि हो भिन्ना, भणई कान्हु भव परिछिन्ना।
जे जे आइला ते ते गेला, अवनागवने कान विमन भईला॥
हेरि से कान्ह जिन उर वटई, भणइ कान्ह मो हियहि न पइसई॥

शास्त्रीजी इसे बंगला का पुराना रूप बतलाते हैं। परंतु हमें इसमें पूर्वी हिंदी के बिलकुल पुराने नहीं बल्कि कुछ विकसित रूप के दर्शन होते हैं। इससे गोरखनाथजी के नीचे लिखे पद को मिलाइए--

> कान्हाप व भेटीला, गुरु विद्यानग्रे सें।
> ताथें पाईला गुरु, तुम्हारा उपदेसें॥
> एते कछु कथीला गुरु, सर्वे भइला भोले।
> सर्वे कमाई खोई, गुरु वावनी चे पोले॥

मराठी 'चे' को छोड़कर इन दोनों में बहुत कुछ समानता है, विशेषकर क्रियापदों के आईला गईला भईला इत्यादि रूपों में बौद्धगान से जो पद ऊपर दिया गया है उसके कर्ता का समय डा० शहीदुल्ला ने आठवीं सदी रखा है। परन्तु मुझे यह रचना इतनी प्राचीन नहीं जान पड़ती। गोरख-

नाथजी का समय हम ११०० संवत् निर्धारित कर आए हैं।' गोरखनाथजी की रचना में प्राचीनता के चिह्न होने पर भी जिस रूप में वह हमें प्राप्त हुई है वह इतना पुराना नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है कि गोरखनाथ के उपदेशों के प्रचार के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ जहाँ गए वहाँ वहाँ के लोगों के लिये उनके उपदेशों को बोधगम्य करने के उद्देश्य से उनकी रचनाओं मे देशकालानुसार फेरफार करते रहे। इसीसे जिस रूप मे हमें आज वह मिलती है उसमें कई प्रांतों की भाषाओं का प्रभाव देख पड़ता है। ऊपर जो उद्धरण दिए गए हैं उनमें एक स्थान पर 'पयाल नी डीबी' में 'नो' गुजराती है।' मराठी 'चे' का हम दर्शन कर ही चुके हैं। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्रीजी को उनको बँगला के पूव रूप मानने के लिये भी उसमें आधार विद्यमान है: जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। राजस्थानी ठाट तो पद पद पर देखने को मिलता है। यहाँ पर एक ही उदाहरण काफी होगा—

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरखरावं॥

गढ़वाल के प्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी पंडित तारादत्त जी गैरोला की कृपा से मुझे कुछ प्रसिद्ध योगियों की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें गोरखनाथजी की निम्नलिखित छोटी-मोटी सत्रह रचनाएँ हैं।

सवदी, पद, तिथि, वार, अभैमात्रा योग, संख्या दर्शन, प्राण संकलि, आत्म–बोध, नरवै बोध, काफर बोध, अवली सिलूक, जाती भौंरावली, रोमावली, साषी, मछीन्द्र गोरखबोध, गोरख गणेश संवाद, गोरख दत्त संवाद। इनके अतिरिक्त ज्ञान सिद्धांत जोग, ज्ञान तिलक, विराट पुराण, कंथड़ बोध, रहरास, किसन असतुति, सिद्ध इकवीसा, अष्ट मुद्रा इन आठ ग्रन्थों का उल्लेख खोज के १९०२ ई० के विवरण में है। इनमें अवश्य ही कुछ तो गोरख के बनाए नहीं हैं, जैसे गोरख गणेश संवाद और गोरख दत्त संवाद। इन पौराणिक व्यक्तियों से उनके संवाद की बात उनके शिष्यों ने ही गढ़ी होगी। यहाँ पर इतना समय नहीं है कि इन सब ग्रंथों की छान-बीन की जाय। जिस प्रति से मेरे संग्रह की प्रतिलिपि कराई गई है वह बहुत पुराने कागज पर लिखी हुई है। कागज इतना पुराना है कि छूते ही टूटने लगता है। इसके आदि और अंत के कुछ पृष्ठ नष्ट हो गए, इससे उसके लिपि-काल का ठीक ठीक पता नहीं लगता। कागज की प्राचीनता और उसमें रजवदास तक की रचनाओं का संग्रह होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि शाहजहाँ के शासन-काल के अंत में इसकी लिपि की गई होगी।

इस संग्रह से पता चलता है कि गोरखनाथजी अपने ढर्रे के केवल एक ही कवि नहीं हुए बल्कि वे हिंदी कविता पर अपनी छाप लगा गए थे। उनके बहुत काल बाद तक उनके अनुयायी

योग विषयक कविता रचते रहे। इस संग्रह में ४० योगियों की कविता संगृहीत है। इनमें से कई तो पौराणिक नाम हैं जिनके विषय में यही कहा जा सकता है कि पीछे से उनके नाम पर पुस्तकें बनाई गई होंगी, उदाहरण के लिये हणवंत, दत्तात्रेय और गणेश की कविता उपस्थित की जा सकती है। इसी प्रकार महादेव और पार्वती की भी कुछ रचनाएँ इस संग्रह में दी गई हैं। महादेव के नाम से जो रचना है उसमें पार्वती को उपदेश दिया गया है—

यंद्री का जती, मुष का सती,
हृदा का कमल मुकता;
ईश्वर बोलंत पारवती,
तो जोगी जो जुगता।

नाथपंथवाले अपनी गुरु परंपरा शंकर से आरंभ करते हैं। शंकर इस प्रकार आदिनाथ कहलाए। मंत्र-तंत्र सभी महादेवजी का आश्रय लेकर चले हैं। उधर शंकराचार्य का शैवमतावलंबी होना भी इससे कुछ संबंध रखता है। किंवदंती है कि महादेव ने सबसे पहले पार्वती को योग का रहस्य बतलाया था। इसको मछंदरनाथ ने नदी में मछली होकर सुना। इसी कारण उसको महादेवजी का शाप हुआ था जिससे गोरखनाथ ने उसका उद्धार किया। संभव है कि मछंदरनाथ ने महादेव-पार्वती के संवाद रूप में अपने परिवर्तित मत को लिखा हो जिसकी

भाषा में देशकालानुसार फेरफार हुआ हो। ऊपर दी हुई किवदंती इसी ओर संकेत करती है। उनकी रचना के ढंग और उनके नाम 'मछंदरनाथ' से ही इस किवदंती का उद्भव जान पड़ता है।

नेपाल में दो मछंदरनाथ माने जाते हैं। एक ढुलो (बड़ा) और दूसरा सानु (छोटा)। बड़े का मत्स्येंद्रनाथ और छोटे को मीननाथ भी कहते हैं। तिब्बत के इतिहासकार श्रीतारानाथ ने दोनों को भाई माना है; परंतु बंगाल की जनश्रुति दोनों को एक ही मानती है। नेपाल में बड़ा मछंदर और पद्मपाणि बोधिसत्व आर्य अवलोकितेश्वर एक माने जाते हैं। नेपाल की वंशावली * में लिखा है कि जब आचार्य बंधुदत्त ने पुरश्चरण मंत्र-प्रयोग और डाकिनी-साहाय्य के द्वारा आर्य अवलोकितेश्वर-मछंदरनाथ का उनके स्थान कापोटल पर्वत से आवाहन किया तब उनकी आत्मा मधुमाखी के रूप में आई थी जो कलश में बंद कर ली गई और फिर एक मूर्ति में प्रतिष्ठित की गई। इससे स्पष्ट है कि बड़ा मछंदर कल्पना मात्र था। मेरा तो विचार है कि छोटे मछंदरनाथ का माहात्म्य बढ़ाने के लिये

---

* 'हिस्ट्री आव् नेपाल' नाम से मुंशी शिवशंकर द्वारा मूल पर्वतीय से अनुवादित, डा० राइट द्वारा संपादित और कैंब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस से सन् १८७७ ई० में प्रकाशित, पृष्ठ १४४।

बौद्धों ने उसी को पहले आर्य अवलोकितेश्वर का रूप माना होगा। परतु पीछे से गोरखनाथ के प्रभाव में आ जाने के कारण यह 'सातु' माना गया और एक दूसरे मछदरनाथ की कल्पना हुई जो गोरखनाथ से अधिक महिमामय ठहराया गया। परतु जनसाधारण ने सातु मछदर की पूजा न छोडी। यह मछदरनाथ भी कम सिद्ध न था। परतु यह अपनी सिद्धता का दुरुपयोग करता था। व्यावहारिक योग में यह गोरखनाथ का गुरु था परतु गोरखनाथ विवेकमय तत्त्वज्ञान में इससे बढ़ा-चढ़ा था। जीवन की प्रामाणिक बातें न मछदरनाथ के विषय की कुछ मालूम हैं न गोरखनाथ के विषय की। परतु गोरखपथ और गोरखाली जाति तथा उनका पवित्र तीर्थ गोरख गुहा—जहाँ गोरखनाथजी के त्रिशूल, कमडलु और सिंगी सुरक्षित बताए जाते हैं—और उसी के पास गोरखा गाँव तथा गोरखपुर—ये सब आज भी हमें गोरखनाथ का स्मरण दिलाते हैं, और मछदरनाथ आज भी नेपाल के अधिकाश जनता के इष्टदेव होकर पूजे जाते हैं।

मछदरनाथ के अतिरिक्त गोरखनाथ के समकालीन योगियों में से इसमें जलधर कणेरीपाव या हालीपाव, चौरगीनाथ तथा सिद्ध घोड़ा-चोली की रचनाएँ दी हुई हैं। **चौरंगीनाथ** और **घोडा-चोली** गोरखनाथ के गुरुभाई थे। **जलंधरनाथ** मछदर का गुरुभाई और **कानपाव** या **कणेरी** जलधर का शिष्य। **हालीपाव** कानपाव ही का दूसरा नाम है। इस नाम

से यह वेश बदलकर रानी मैनावती के यहाँ भगी होकर रहा था। जो बातें गोरखनाथ और मछंदरनाथ के बारे में कही गई हैं वही इनके विषय में भी ठीक हैं। इनकी कविता में भी देशकालानुसार फेरफार हुआ होगा। इनकी रचना के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं–

जलधरनाथ—

थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी।
दहूँ पषा की संधि विचारै, ते को विरला जोगी।
यह ससार कुवधि का खेत, जब लगि जीवे तब लगि चेत;
ऑख्यॉ देखे, कान सुणै, जैसा बाहै तैसा लुणै॥

चोड़ा चोली—

रावल ते जे चाले राह, उलटी लहरि समावै माँह।
पचतत्त का जाणै भेव, ते तो रावल परतिप देव॥
नवसिप पूरि रहीले पौन, आया दूध-भात तो पाए कौन;
मेर-डड काठा करि बधि, वाई पेले चौसठ संधि॥

चौरगीनाथ—

मारिया तौ मन मीर मारिवा, लूटिवा पवन भडारं।
साधवा तौ पंच तत सधिवा, सेइवा तो निरंजन निराकारं॥
माली लौ भल माली लौ, सींचै सहज कियारो।
उनमनि कला एक पहूपन पाई, लै आवागवन निवारी॥

कणेरीपाव—

सगौ नहीं संसार, चित नहि आवै वैरी।

नृभय होइ निसक हरिप में हास्यौ कणेरी ॥
हास्यौ कणेरी हरिप में, एक लड़े आरन्न।
जुरा विछोही जो मरण, मरण विछोह्या मन ॥
अफल कणेरी सकलै बेंद ।
विन परचै जोग विचारै छ्द ।
आछै आछै महिरे मडलि कोई सूरा,
मारचा मनवा नै समझावै रेलो ।
देवता नै दाणवा येणे मनवै व्याह्या,
मनवा ने कोई ल्यावे रेलो ॥
जोति देखि देखी पड़े रे पतंगा,
नादे लीन कुरगा रेलो ।
यहि रस लुब्धी मैंगल मातौ,
स्वादि पुरिष तैं भौंरा रेलो ॥

चुणकरनाथ और **चरपटनाथ** से हमें इतिहास की निश्चित भूमि पर पाँव रखने को जगह मिलती है। इस समय के कुछ पीछे के बने गोरखशतक में चरपटनाथ मछंदरनाथ के शिष्य कहे गए हैं पर यह मान्य नहीं है। गहनीनाथ का जिक्र हम ऊपर कर आए हैं। ये गहनीनाथ के गुरुभाई प्रसिद्ध हैं। गहनीनाथ ने भी हिंदी में कविता की है। उनका समय संवत् १२८०-१३३० निश्चित है। अतएव ये भी इसी समय में हुए होंगे। रजबदास ने अपने सरबंगी ग्रन्थ में चरपटनाथ का चारणी के गर्भ से उत्पन्न होना कहा है।

चारणी मध उत्पनो, चरपटनाथो महामुनी।
त्रतिम जोग धारण, तस्मात् कि ज्ञानि कारणम् ॥

इससे यह भी ध्वनित होता है कि वे राजपूताना के रहने-वाले थे। संभवतः संस्कृत चर्पटमंजरी के लेखक भी यही चरपट हों। इनकी हिंदी कविता भी वैसी ही चलती और प्रांजल है—

किसका बेटा किसकी बहू,
आप सवारथ मिलिया सहू।
जेता फूला तेती आल,
चरपट कहै सब आल जँजाल ॥
नाथ कहावे मरुहि न नाथि,
चेला पंच चलावे साथि।
माँगे भिच्छा भरि भरि खाहि,
नाथ कहावैं मरि मरि जाहि ॥
चाकर कूकर काँगुर हाथि
बाली भोली तरुणी साथि।
दिन करि भिच्छया रात्यूँ भोग,
चरपट कहै बिगोवै जोग ॥
चरपट चीर चक्र सन कंथा,
चित्त चमाऊ करना;
ऐसी करनी करो रे अवधू,
ज्यूँ बहुरि न होई मरना ॥

वैठे राजा वैठे परजा,
वैंठे जंगल की हिरणी।

हम क्यों वैठें रावल वावल,
सारी नगरी फिरणी॥

ना घरि तिय ना पर तिय रता,
ना घरि धन न जोवन मता।

ना घरि पूत न धीय कुँआरी,
ताते चरपट नींद पियारी॥

चुणकरनाथ भाषा की दृष्टि से चरपट से पहले के जान पड़ते हैं—

साधी सूधी के गुरु मेरे, वाई सूँ ब्यंद गगन मैं फेरे।
मनका वाकुल चुणिया वोलैं, साधी ऊपर क्यों मन डोलैं॥
वाई वंध्या सयल जग, वाई किनहुँ न वंध।
वाइ विहूणा ढहि, पड़ै जोरै कोइ न संध॥

वालानाथ और **देवलनाथ**—ये दोनों योगी अनुमान से चरपट के वाद या उसी समय हुए होंगे। पंजाव में वालानाथ का टीला प्रसिद्ध है। जायसी ने भी उसका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि वे कोई वड़े भारी सिद्ध रहे होंगे। इनकी कविता की भी भाषा अच्छी है—

पहिलो कीए लड़का लड़को, अब ही पंथ में वैठा।
बूढ़े चमड़े भसम लगाई, वअजती ह्वै वैठा॥

❀ ❀ ❀

पहले पहरे सब कोई जागे, दूजे पहरे भोगी।
तीजे पहरे तसकरि जागे, चौथे पहरे जोगी॥

देवलजी की कविता का उदाहरण—

देवल भए दिसंतरी, सब जग देख्या जोइ।
नादी वेदी बहु मिलें, भेदी मिलै न कोइ॥

सिद्ध धूँधलीमल और गरीबनाथ—नैणसी ने अपनी ख्यात में इनका उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि सिद्ध धूँधलीमल का आश्रम धीणोद में था। गरीबनाथ धूँधलीमल का शिष्य था। इसने अपना आश्रम लाखड़ी में जमाया था। उस समय लाखड़ी का राजा घोघाकरन था। गरीबनाथ के शाप से घोघाओं का नाश हुआ और धूँधलीमल के आशीर्वाद से जाड़ोचा भीम लाखड़ी का राजा हुआ। प्रभास पाटन के शिलालेख से इनका समय संवत् १४४२ ठहरता है। गरीबनाथ इस समय अपने गुरु के समान ही सिद्धियों का भंडार हो गया था। इससे गुरु और शिष्य की आयु में लगभग ४०—४५ वर्ष का अन्तर मानना चाहिए। १४४२ यदि गरीबनाथ का समय माना जाय

१४०० धूँधलीमल का होगा। इन दोनों गुरु चेलों की रचना के नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

धूँधलीमल—

आईसजी आवा, वावा आवत जात वहुत जुग दीठा
कछू न चढ़िया हाथं।
अब का आवणा सूफल फलिया, पाया निरंजन सिध का साथ॥
आइसजी वैठो, वावा उठा बैठो वैठा, उठि उठि बैठी जग दीठा।
घरि घरि रावल भिक्षा माँगे एक अमीरस मीठा।

गरीवनाथ—

पाताल की मीडकी अकास जव वावै।
चद सूरज मिलै तहाँ तहाँ गग जमुन गीत गावै॥
सकल ब्रह्माड तन उलटा फिरै, तहाँ अधर नाचै डीव।
मति सति ही भापत श्री सिद्ध गरीव॥

पृथ्वीनाथ—पृथ्वीनाथजी कवीर के पीछे हुए। उन्होंने कवीर का उल्लेख भूतकालिक क्रिया में किया है—

राजा जनक भया तिन क्या कथ्या क्या प्रह्लाद कवीर।
सो पद काहे न खोजिए जिहि ऊधरै सरीर॥

कवीर की मृत्यु सर्वसम्मति से वि० १५७५ में हुई। इस आधार पर इनका समय १६०० के आसपास मानने योग्य है। इस संग्रह में पृथ्वीनाथ के १३ शब्द, २ पद और १०५ श्लोकों का एक 'साधप्रकास जोग' ग्रथ है।

इनकी रचना के नमूने—

साधू बोहिथ अभैपद, दरसन देप्या पार।
पृथ्वीनाथ दुलभ है, उन साधौं दीदार॥
सींचत ही फल देहिं बृछहैं तजे न छाया।
तिस ठाही साधरम हीं नहँ माचा सचु पाया॥
पहली समझि न पडे धका लागै यें जाणहीं।
विगडी उपरि सने ताहि ईश्वर करि मानहीं॥
इहै गति ससार पुरिप का मरम न पावहीं।
जे हरि समझ्या होइ तौ ब्रह्मा क्यौं बछ चुरावहीं॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथजी के काल से बराबर बहुत समय तक योग का कविता का प्रवाह हिंदी साहित्य में बहता रहा। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्ति धारा की दो शाखाओं के दर्शन कराए हैं—एक निर्गुण शाखा और दूसरी सगुण शाखा। निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति धारा का जल पहले याग के ही घाट पर बहा था। गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर प्रणिधान में बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने ही वास्तव में योग का खंडन किया है और न गोरख ने केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है। शरीर का व्यर्थ कष्ट देना कभी भी हठयोग का उद्देश्य नहीं है। इसके विपरीत गोरखनाथ का उद्देश है—

हसिवा खेलिवा गाइवा गीत।
दृढ़ करि राषि अपना चीत॥

❀ ❀ ❀

षाए भी मरिए अणखाए भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए॥

इसलिये उन्होंने बौद्धों से मध्य मार्ग का ग्रहण किया है—

मधि निरंतर कीजै वास।
निहचल मनुआ थिर ह्वै सास॥

तन का योग केवल मन की सहायता के लिये है। बिना ईश्वर-प्रणिधान के बाहरी योग केवल निष्फल ही नहीं जायगा, हानि भी पहुँचायेगा—

आसण पवन उपद्रह करै।
निसिदिन आरंभ पचि पचि मरै॥

आगे चलकर जब भक्ति की धारा नई भूमि पर नए आकार और नए वेग से बहने लगी तब उसका नाम निर्गुण धारा पड़ा। निर्गुण धारा को तो साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिला है, परंतु योग धारा अब तक इस सौभाग्य से वंचित है। उसके प्रवर्तक गोरखनाथ और उनके अनुयायी अन्य योगी कवि चमत्कारपूर्ण जन-श्रुतियों के ही नायक बने रहे। इसका कारण यही जान पड़ता है कि योग-संबंधी पर्याप्त रचना अब

तक प्राप्त नहीं हुई है। यह भी कहा जा सकता है कि योगेश्वरी वाणी में काव्य के उच्च गुणों का अभाव ही सा है और वह अधिकतर पद्य की ही सीमा में बँधी रही। कांता-सम्मित उपदेश उसके दिये दिया भी नहीं जा सकता था। यह बात ठीक है, पर यही आक्षेप निर्गुण कविता पर भी किया गया है और इसके कारण उसके संबंध में बहिष्कार-नीति का अनुसरण नहीं किया गया। साहित्य के इतिहास में काव्य के गुण-दोषों की समीक्षा का होना आवश्यक है; परंतु उसके आधार पर त्याग-नीति का अवलंबन इतिहास की सीमा के बाहर है। अपनी वस्तु चाहे बहुमूल्य हो अथवा अल्पमूल्य, उसे अपनी स्वीकार करना ही पड़ेगा। फिर योग की कविता का बहुत प्राचीन साहित्य होने के कारण भी उसका अपना अलग ही मूल्य है जिसके लिये हमें योगियों का समुचित आभार मानना चाहिए।

अवलोकनीय साहित्य

१ हिस्टरी आव् नेपाल, पं० गुणानंद शर्मा की सहायता से मुं० शिवशंकर द्वारा अनुवादित तथा डा० राइट द्वारा संपादित।

२ तारानाथ रचित गिशडेस बुद्धिस्मस इन इंडीन, सेंट-पीटर्सवर्ग। (इस ग्रंथ से मैं सहायता न ले सका।)

३ सिल्वेन लेवी रचित ले नेपाल।

४ डा० शहीदुल्ला रचित चैंट्स डि मिस्टिक्स।

५ इंसाइक्लोपीडिया आव् रिलिजन एंड एथिक्स में ग्रियर्सन और टेसिटोरी के क्रमशः गोरखनाथ और योगियों पर लेख।

६ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री संपादित बौद्ध गान और दोहा।

७ डा० फर्कुहर रचित आउटलाइन आव् रिलिजस लिटरेचर इन इंडिया।

कबीर का जीवन-वृत्त

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत)

नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ की चौथी संख्या में श्रीमान पं० चंद्रवली पांडेय का 'कबीर का जीवन-वृत्त' शीर्षक लेख पढ़कर बड़ा आनंद हुआ। पं० चंद्रवली सदृश विद्वान को कई बातों में अपने से सहमत देख किसे आनंद न होगा। विशेष हर्ष मुझे इस बात का है कि मेरे जिस मत को बड़े बड़े विद्वान् मानने को तैयार नहीं उसके मुझे एक जबर्दस्त समर्थक मिल गए हैं। पांडेयजी भी मानते हैं कि निम्न-लिखित पंक्तियों के आधार पर कबीर का मुसलमान कुल में उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है—

जाके ईद बकरीद गऊ रे बध करहिं, मानियहिं शेख शहीद पीरा।
जाके बापि ऐसी करी पूतऐसी धरी, तिहुँ रे लोक परसिध कबीरा॥

कुछ विद्वान्, जिनसे मैंने इस संबंध में परामर्श किया था, मुझसे इस बात में सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि कबीर को मुसलमान का पोष्य पुत्र मात्र मानने में भी ये पंक्तियाँ कोई अड़चन नहीं डालतीं। पर मेरा उत्तर है कि इन पंक्तियों के रच- यिताओं का अभिप्राय है कि भक्ति के लिये ऊँचे कुल में जन्म आवश्यक नहीं है। इससे सिद्ध है कि कबीर मुसलमान के पे

पुत्र नहीं, औरस पुत्र थे। इस मामले में पांडेयजी ने मेरा पक्ष ग्रहण किया है, इसलिये मुझे हर्ष होना स्वाभाविक ही है।

परंतु पांडेयजी के लेख में एक जरा सी गलती रह गई है। उन्होंने इन पंक्तियों को रैदास की बतलाया है, जो आदिग्रन्थ में दी हुई हैं। पर रैदास के वचन का वस्तुतः यह पाठ नहीं है। उसका हवाला भी उनके लेख में गलत है। किन्तु इसका दोष पांडेयजी के मत्थे मढ़ने का अन्याय मैं न करूंगा।

ये पंक्तियाँ थोड़े से पाठ-भेद[1] से सिखों के आदिग्रन्थ में, रैदास के और रजबदास के सर्वांगी में पीपाजी के नाम से दी गई हैं। आदिग्रन्थ में यह पाठ है—

जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु,
करहिं मानीअहिं सेख सहीद पीरा।
जाके बापि वैसी करी पूत ऐसी सरी,
तिहुँ रे लोक परसिध कबीरा॥

और सर्वांगी में यह—

जाके ईद बकरीद, नित गऊ रे वध
करै मानिए सेख सहीद पीरा।

---

(१) दोनों पदों में पाठ-भेद के साथ भी यही दो पंक्तियाँ समान हैं। पदों के शेषांश बिल्कुल भिन्न हैं।

वापि वैसी करी पूत ऐसी धरी
नाँव नवखंड परसिध कबीरा ॥

इन दोनों के आधार पर तथा कुछ संगति का ध्यान रखकर मैंने निर्गुण संप्रदाय पर अपने अंग्रेजी निबंध में, जिसे पांडेयजी ने अपना 'वृत्त' लिखने के पहले माँगकर पढ़ लिया था, ऊपर का पाठ निर्धारित किया था। इससे आदिग्रंथ के पाठ में विशेष परिवर्तन यह हुआ कि 'मरी' के स्थान पर 'धरी' हो गया और 'वैसी' के स्थान पर 'ऐसी' तथा गलती से 'सेख सहीद' में 'स' के स्थान पर 'श'। टाइपिस्ट की कृपा और मेरी असावधानी के कारण पाद-टिप्पणी का वह अंश भी छपने से रह गया था जिसमें मैंने पाठांतरों का निर्देश किया था। इसी से पांडेयजी धोखे में आ गए। अन्यथा उनकी सी निपुणता के व्यक्ति से ऐसी गलती होना संभव नहीं था। पाद-टिप्पणी में पांडेयजी ने आदिग्रंथ की जो पृष्ठसंख्या दी है, वह भी गलत है और मेरे टाइपिस्ट की कृपा का फल है। पृष्ठ-संख्या ६९८ होनी चाहिए। मुझे खेद है कि मेरे हिंदी रूपांतर में भी ये गलतियाँ रह गई हैं।

इस लेख में पांडेयजी को एक बहुत महत्त्वपूर्ण सूचना देने का अवसर मिला है। वह सूचना है यह कि गुरु गोरखनाथ ने हिंदू और मुसलमानों की एकता की ओर भी ध्यान दिया था'[1]। यद्यपि

---

(१) ना० प्र० प०, भाग १४, अंक ४, पृ० ५०१।

पांडेयजी ने इसके कोई प्रमाण नहीं दिए हैं, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि यह बात निराधार है। मुझे खेद है कि मैं यथासमय पांडेयजी को इस बात का प्रमुख प्रमाण न दे सका, क्योंकि मेरे कागज-पत्र उस समय ऐसी गड्बड्ड हालत में थे कि उनमें से उन्हें ढूँढ़ निकालना कठिन था, और पांडेयजी अधिक समय तक ठहरना नहीं चाहते थे। प्रमाण नागरीप्रचारिणी पत्रिका में यथास्थान छपने के लिये भेज दिए गए हैं। परंतु पाठकों के लाभार्थ यहाँ भी दे दिए जाते हैं। गढ़वाल में प्रचलित झाड़-फूक के मंत्रों में संतों और सिद्धों के संबंध में जो उल्लेख हैं उनका मैंने संग्रह किया है। पं० चंद्रबली के आग्रह से मैंने इस छोटे से सग्रह को उन्हें भी सुनाया था। इस संग्रह में गोरखनाथजी के संबंध में लिखा है—"हिंदू मुसलमान बालगुदाई दोऊ सहरथ लिये लगाई"[१] जिससे पता चलता है कि गुरु गोरखनाथ के चेलों में हिंदू मुसलमान दोनों सम्मिलित थे। मुसलमानों की जिबह आदि करते देख गोरखनाथ ने किसी काजी से कहा था—

मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचारं।
मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहे गढ़ी न सार॥
सबदै मारै सबद जिलावै ऐसा महम्मद पीरं।
ऐसे भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं॥

---

(१) वही, पृ० ५५१।

पद्य गोरखनाथ की सबदी के हैं। इनसे पता चलता है कि वे
सलमानों के हृदय में अहिंसा की भावना भरना चाहते थे जिससे
न्हें अपने हिंदू पड़ोसियों के साथ मेल-जोल से रहने की आव-
यकता मालूम पड़ती। संभवतः बाबा रतन हाजी उनके मुसल
न चेलों में से एक थे, जिन्होंने अपने ग्रंथ **काफिर बोध** में
स्य के पक्ष में बहुत कुछ कहा है।

पृ०४२२ का एक टिप्पणी में पांडेयजी ने बड़ा अनुग्रह करके
रा स्मरण किया है, और नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ११, अंक
में छपे हुए मेरे लेख 'हिंदी-काव्य में योग-प्रवाह' में से एक अव-
रण दिया है जिसमें मैंने कहा है—"निर्गुण शाखा वास्तव में योग
ा ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का जल पहले योग के ही
ाट पर बहा था", इस र अपना अभिमत देते हुए पांडेयजी ने
त्कामना की है—"**भक्ति एवं योग के विवाद में न**
ड़, हमें यही कहना है कि यदि उक्त पंडितजी इस विषय की
ीमांसा में तल्लीन रहेंगे तो एक नवीन तथ्य का उद्घाटन ही नहीं
तिपादन भी हो जायगा।" पांडेयजी की सत्कामना के लिये मैं
ोटिशः धन्यवाद देता हूँ। परंतु मुझे इस बात का पता नहीं
ला कि पांडेयजी 'भक्ति एवं योग का विवाद' कहाँ से ले आए हैं।
ान पड़ता है कि उक्त लेख में मेरे इस कथन की ओर उन्होंने
्यान नहीं दिया—"गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर-प्रणिधान
बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने ही वास्तव में योग का

खंडन किया है और न गोरखनाथ ने ही केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है।" यदि उन्होंने इन वाक्यों की ओर ध्यान दिया होता तो उन्हें 'भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़' कहने की आवश्यकता न होती--चाहे यह कहकर वे स्वयं इस झगड़े में न, पड़ना चाहते हों चाहे मुझे उसमें न पड़ने का आदेश देते हों।

विद्वानों की आलोचना से कई लाभ होते हैं। जहाँ पांडेयजी के 'वृत्त' से मुझे पता लगा है कि मेरा कौन सा मत पुष्ट है, वहाँ मेरे एक मत के 'अग्रिम खंडन' द्वारा यह बतलाकर भी वे मेरे धन्यवाद के भाजन हुए हैं कि कहाँ मुझे अधिक विस्तार के साथ लिखने की आवश्यकता है।

कबीर के जन्म-स्थान के संबंध में विवेचन करते हुए पांडेयजी ने लिखा है--"कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर का जन्मस्थान काशी नहीं, संभवतः मगहर था।" उनमें से एक मैं भी हूँ। पांडेयजी का संकेत विशेषकर मेरे निबंध की ओर है। मगहर के पक्ष में प्रमाण उन्होंने उसी में के दिए हैं। इस मत का प्रधान प्रमाण तो 'आदिग्रंथ' में दिया हुआ कबीर का वह पद है जिसमें उन्होंने कहा है--'पहले दरसन मगहर पायो पुनि कासी बसे आई'। इससे स्पष्ट है कि कबीर को भगवद्दर्शन मगहर में हुआ था और उसके बाद वे काशी में आ बसे थे। इससे यह भी संभव है कि कबीर का जन्म मगहर में हुआ हो। काशी में कबीर का जन्म

हुआ था, इस बात को तो यह पद अवश्य संदेह में डाल देता है। परंतु पांडेयजी का मत है कि ऐसा समझना 'सावधानी' से काम न लेना है। क्योंकि मगहर में बैठे बैठे वे 'कासी वसे आई' कैसे कह सकते हैं—'आई' की जगह 'जाई' होना चाहिए था। उनकी समझ में, इस पंक्ति में मगहर और काशी का स्थान बदल गया है। इसका पाठ होना चाहिये–'पहिले दरसन कासी पायो पुनि मगहर वसे आई'। 'प्रकृत पद्य' उनके लिये वह है जिसका अनुवाद मेकालिफ ने इस प्रकार किया है—"I first saw you at Kasi a d then came to reside at Magahar" यह पंक्ति मेरी वै जिसमें मैंने मेकालिफ का अभिप्राय मात्र दिया था। मेकालिफ के शब्द ये हैं— I first obtained a sight of Thee in Benares and afterwards I went to live at Magahar. (Sikh Religion, vol 6 पृ० १३०)

इस संबंध में सबसे पहले ध्यान रखने योग्य बात यह है कि 'गुरु ग्रंथ साहब' के भिन्न भिन्न संस्करणों में पाठ-भेद नहीं हो सकता। उसके पद्यों का मंत्रतुल्य आदर होता है। उसकी लिखाई छपाई में अत्यंत सावधानी रखी जाती है। कोई मात्रा टूट जाय, छूट जाय, बढ़ जाय सो तो शायद संभव हो भी परंतु ऐसी गलती उसमें संभव नहीं जिसमें अक्षरों और अर्थ का इतना उलट-पलट हो जाय और वह भी प्रचलित प्रवाद के विरुद्ध। मैंने तरन-तारन के हिंदी संस्करण के इस पाठ को कुछ गुरुमुखी ग्रंथों से मिलवाया

है[1]। परतु पाठ हर हालत में एक ही मिला है। इस पाठ में मेकालिफ के अनुवाद के अतर का कारण दूसरा पाठ नहीं है, वल्कि उनके मस्तिष्क पर अधिकार कर बैठा हुआ प्रचलित प्रवाद है। मैं नहीं कहता कि आदि ग्रथ के अतिरिक्त और जगह भी इसका ठीक यही पाठ मिलेगा। परतु वस्तुत. यह पद दूसरी जगह अभी तक मिला नहीं है। अतएव दूसरे पाठ का प्रश्न ही नहीं उठता। मेकालिफ का गलत अनुवाद उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता। उन्होंने आदि ग्रथ का अनुवाद किया है, और चीजों का नहीं। अगर इस पद का पाठ गलत है तो वह 'आदि ग्रथ' कार की गलती है। परतु प्रचलित प्रवाद को छोड़कर कोई वात ऐसी नहीं है जो इस पाठ के विरोध में खडी हो।

'आई जाई' का झगड़ा कोई विशेष अड़चन खडी नह करता। कबीर को काशी छोड़कर आए हुए अभी थोड़े ही दिन हुए है, मन उनका काशी ही में है। काशी के उन्हे अत्यत प्रिय होने के कारण मगहर से अभी उनके मन का समन्वय न हो पाया था। जितना अधिक वे इस बात का एलान करते हैं कि काशी का मुक्ति-मार्ग में कुछ विशेष महत्त्व नहीं, उतनो ही अधिक दृढ़ता से वह उनके हृदय में बैठी हुई दिखाई देती है। इसी से अनजान में उनके

---

(१) एक हो हवाला यहाँ देते है, देखो राय साहब गुलाबसिह ऍड सस का पूजावाला बड़ा सस्करण पृ० ६६६।

मुंह से ऐसी ही बातें निकलती हैं मानो अभी वे काशी ही में हों। अगर पाठ-परिवर्तन ही मानना अभीष्ट हो तो 'जाई' का 'आई' बन जाता क्यों न माना जाय ? यद्यपि मैं स्वयं यह नहीं मानता।

पांडेयजी ने यह भी दलील पेश की है—'जहाँ तक हमें इतिहास का पता है, उस समय मगहर में मुसलमानों का निवास न था।' मुझे इतिहास का बहुत कम पता है, परंतु जाननेवाले बतलाते हैं कि उस समय गोरखपुर के आसपास का शासन नवाब बिजलीखाँ पठान के हाथ में था। गाजी मियाँ सालार जंग तो बहुत पहले बहराइच तक आ पहुँचे थे। फिर उस समय मगहर में मुसलमानों के बसने में कौन सी असंभवता है ?

इन सब बातों को देखते हुए यदि कोई यह माने कि कबीर के जन्म-स्थान के लिये काशी का दावा संदेहास्पद है तो अनुचित नहीं। यह बात ठीक है कि 'न जाने कितनी बार कबीर ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है' पर इससे यह कहाँ निकलता है कि वे पैदा भी वहीं हुए थे। आजकल अपने आपको बनारसी कहनेवालों की संख्या बेढब बढ़ रही है पर यह इस बात का प्रमाण थोड़े ही है कि वे जनमे भी बनारस ही में हैं।

मेरा तो विचार है कि कबीर का मगहर ही में जन्म लेना अधिक संभव है। कबीर के शिष्य धर्मदास भी यही कहते जान पड़ते हैं। उनका कहना है—

हंस उबारन सतगुरु जग में आइया।
प्रगट भए कासी में दास कहाइया॥
बाह्मन औ सन्यासी तो हासी कीन्हिया।
कासी से मगहर आये कोई नहिं चीन्हिया॥
मगहर गाँव गोरखपुर जग में आइया।
हिंदू तुरक प्रमोधि के पंथ चलाइया॥

—शब्दावली, पृ० ३, ४, शब्द ६।

जग में उनका आना जीवों के उद्धार के लिये हुआ था और हुआ था गोरखपुर के पास मगहर गाँव में, काशी मे तो वे प्रकट हुए थे। उससे पहले उनकी प्रसिद्धि नहीं हुई थी। उनकी प्रसिद्धि का कारण हुआ स्वामी रामानंद का चेताना (काशी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए) अर्थात् उनका कबीर के वास्तव स्वरूप को पहचानना जिससे उन्होंने उन्हें वहिचक वैष्णव-मंडली मे सम्मिलित कर लिया और वे कबीरदास कहे जाने लगे। परंतु और ब्राह्मणों तथा सन्यासियो ने उन्हें नहीं पहचाना और उनकी हँसी में तत्पर रहे। इसलिये वे काशी से मगहर चले आए। 'कोई नहिं चीन्हिया' का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि वे काशी से मगहर ही क्यो आए, इसका कारण किसी को न मालूम हुआ; मगहर वे इस लिए आए कि वहीं उनका जन्म हुआ था। इस अवसर पर मगहर ही को क्यो उन्होंने पसद किया इसका

यह काफी अच्छा समाधान है। पांडेयजी ने भी अपने लेख में इस पद का एक अंश उद्धृत किया है परंतु उसके 'रहस्योद्घाटन' की ओर उन्होंने वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई है जैसी उनके कैंड़े के विद्वान् से आशा की जा सकती है।

लगे हाथों पांडेयजी की एक उलझन को सुलझा देना तथा उनकी एक गलती का निराकरण कर देना भी जरूरी जान पड़ता है। परंपरागत जनश्रुति है, अपने शव के लिये हिंदू मुसलमानों में खून-खराबी की संभावना देखकर कबीर की आत्मा ने आकाशवाणी की "लड़ो मत, पहले कफन उठाकर देखो कि तुम लड़ किस चीज के लिये रहे हो"; कफन उठाकर देखा गया तो शव की जगह फूल पाए गए जिनको हिंदू मुसलमान दोनों ने बाँट लिया। इस कहानी का उल्लेख कर पांडेयजी ने बाबू श्यामसुन्दरदासजी-सपादित **कबीर-ग्रंथावली** की भूमिका में से इसके संबंध का यह अवतरण दिया है—"यह कहानी भी वि ास करने योग्य नहीं है परंतु इसका मूल-भाव अमूल्य है" और इस पर टिप्पणी की है—"हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि कबीर की उस (?) आत्मा ने इस प्रकार की आकाशवाणी कर, लड़ो मत, कफन उठाकर देखो, कौन सा अमूल्य भाव भर दिया है।" भाव तो बिलकुल स्पष्ट है पर यही समझ में नहीं आता कि पांडेयजी के समझ में वह क्यों नहीं आता। पांडेयजी ने अगर इस प्रसंग को ध्यान से पढ़ा होता और 'पर हिंदू-मुसलिम-ऐक्य के

किया है कि कबीर के क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार कार्य सिकंदर लोदी सरीखे कट्टर और अत्याचारी सुलतान के राज्य में संभव नहीं था। पांडेयजी का कथन है कि कबीर ने पहले पहल इस्लाम का विरोध नहीं किया, इसलिये वे चैन से हिंदुओं की श्रुति-स्मृति, अवतार आदि की निंदा करते रहे, किंतु अंत में ज्योंही इस्लाम का विरोध करने लगे त्योंही उन्हें उसका मजा चखना पड़ा और अंत में वे मगहर भाग गए। इसमें पांडेयजी ने स्पष्ट ही यह बात मानी है कि कबीर ने अपने पद्यों की किसी विशेष क्रम से रचना की, जिसे मानने के लिये कोई भी आधार नहीं है। वस्तुतः, जैसा डा० त्रिपाठी कहते है, कबीर के ऊपर ऐसी क्रूर दृष्टि किसी मुसलमानी शासक की पड़ी ही नहीं जैसी सिकंदर लोदी के शासनकाल में पड़नी संभव थी। मगहर भी वे किसी मुसलमान शासक के अत्याचार से भागकर नहीं गए। सुलतान के अत्याचार से मगहर ही में उनकी रक्षा कैसे हो सकती था ? वहाँ नवाब बिजलीखाँ की सरंक्षता भी उनकी चमड़ी को साबित न रख सकती। वह खुद बिजलीखाँ की चमड़ी को अंदेशे में डाल देती। असल में वे मगहर इसलिये गए कि काशी में उनका रहना हिंदुओं ने दूभर कर दिया था। शाह तक्की कोई ऐसा उदार व्यक्ति था जिससे जान पड़ता है कि मुसलमानों को भी कबीर को सजा दिला सकने की आशा न थी, फिर हिंदू उससे क्या आशा रखते। इसलिये उन्होंने मजाक का आसरा

प्रयासी कबीर की आत्मा यह बात कब सहन कर सकती थी' इस कथन पर दृष्टि डाली होती तो पांडेयजी को कहानी के अमूल्य मूल-भाव के समझने में देर न लगती लेखक का अभिप्राय स्पष्ट है। उनका अभिप्राय है कि यह चमत्कारी कहानी विशेष रूप से यह दिखलाने के लिये गढ़ी गई है कि कबीर की आत्मा ने मृत्यु के बाद भी हिंदू मुसलिम-विरोध के निराकरण का प्रयत्न नहीं छोड़ा। हिंदू मुस्लिम ऐक्य की आवश्यकता का अमूल्य मूल्य आज भी अनुभूत हो रहा है।

पृ० ५०२ में पांडेयजी ने 'जिंद' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि धर्मदास को शब्दावली (वेल्वेडियर प्रेस) के संपादक महोदय ने जिंद का अर्थ 'बधोगढ़-निवासी बनिये' माना है, जो सर्वथा अमान्य है। परंतु वस्तुतः यह उक्त संपादक महोदय के ऊपर अन्याय है। उन्होंने ऐसा कुछ नहीं माना है। 'बधोगढ़ के बनिये' तो 'बांधो के बानी' का अर्थ है जो इसी प्रसंग में आया है। परतु हड़बड़ी के कारण पांडेयजी ने पुस्तक को अच्छी तरह पढ़ा नहीं, नहीं तो उन्हें देख पड़ता कि उक्त संपादक ने 'जिंद' के माने 'जिन' दिये हैं, 'बाधोगढ़ के बनिये' नहीं। 'जिंद' शब्द पर एक छोटा सा निबंध ही लिखा जा सकता है पर उसके लिये मेरे पास इस समय अवसर नहीं है।

पांडेयजी ने डा० त्रिपाठी के इस मत का व्यर्थ ही विरोध

किया है कि कबीर के क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार कार्य सिकंदर लोदी सरीखे कट्टर और अत्याचारी सुलतान के राज्य में संभव नहीं था। पांडेयजी का कथन है कि कबीर ने पहले पहल इस्लाम का विरोध नहीं किया, इसलिये वे चैन से हिंदुओं की श्रुति-स्मृति, अवतार आदि की निंदा करते रहे, किंतु अंत में ज्योंही इस्लाम का विरोध करने लगे त्योंही उन्हें उसका मजा चखना पड़ा और अंत में वे मगहर भाग गए। इसमें पांडेयजी ने स्पष्ट ही यह बात मानी है कि कबीर ने अपने पद्यों की किसी विशेष क्रम से रचना की, जिसे मानने के लिये कोई भी आधार नहीं है। वस्तुत, जैसा डा० त्रिपाठी कहते हैं, कबीर के ऊपर ऐसी क्रूर दृष्टि किसी मुसलमानी शासक की पड़ी हो नहीं जैसी सिकंदर लोदी के शासनकाल में पड़ना संभव थी। मगहर भी वे किसी मुसलमान शासक के अत्याचार से भागकर नहीं गए। सुलतान के अत्याचार से मगहर ही में उनकी रक्षा कैसे हो सकती थी? वहाँ नवाब बिजलीखाँ की संरक्षकता भी उनकी चमड़ी को साबित न रख सकती। वह खुद बिजलीखाँ की चमड़ी को खँदेशे में डाल देती। असल में वे मगहर इसलिये गए कि काशी में उनका रहना हिंदुओं ने दूभर कर दिया था। शाहेन्वक्त कोई ऐसा उदार व्यक्ति था जिससे जान पड़ता है कि मुसलमानों को भी कबीर को सजा दिला सकने की आशा न थी, फिर हिंदू उससे क्या आशा रखते। इसलिये उन्होंने मजाक का आसरा

लिया। जहाँ कबीर दिखाई दिए वहीं "अरर कबीर" के साथ बुरी बुरी गालियों की झड़ी लगने लगी। काशी में कबीर की खूब जोर की हँसी हुई थी, इसका उल्लेख कबीर पंथियों ने कई पदों में किया है। 'निर्गुण बानी' नामक एक संग्रह में दो-तीन बार 'काशी में हाँसी कीन्हीं' का उल्लेख है। धर्मदास की 'शब्दावली' से मगहर के संबंध में जो पद ऊपर उद्धृत किया गया है, उसमें भी स्पष्ट लिखा है—'ब्राह्मण औ सन्यासी तो हाँसी कीन्हिया'। उक्त संग्रह के दो-एक पदों के अनुसार इस हँसी का अवसर भी कबीर ही ने प्रस्तुत कर दिया था। श्रद्धालुओं की श्रद्धा से तंग आकर वे एक बार वेश्या को बगल में लेकर काशी की गलियों में घूमे थे। परंतु उसका जो घोर परिणाम हुआ उसके लिये वे तैयार नहीं थे। सभ्य लोगों ने सभ्य मजाक किया होगा, असभ्यों ने भद्दा।

यह भी नहीं समझना चाहिए कि कबीर प्रकारांतर से हिंदुओं में इस्लाम का प्रचार कर रहे थे, इस्लाम का विरोध उन्हें अभीष्ट ही नहीं था। उनकी फटकार हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये था, दोनों के अंधविश्वासों तथा कर्मकांड इत्यादि की उन्होंने समान रूप से निंदा की है। हिंदुओं के प्रति अधिक और मुसलमानों के प्रति कम विरोधात्मक उक्तियों का कारण यह है कि कबीर की दार्शनिक प्रवृत्ति हिंदुओं के सर्वथा मेल में थी, इसलिये वे अधिकतर उन्हीं की संगति में रहा करते थे और स्वाभवत उन्हीं को

अधिक समझाते फटकारते थे, मुसलमानों से बहस-मुबाहसा करने का उन्हें मौका ही कम मिलता था।

अतएव निषेधात्मक होने पर भी डाक्टर त्रिपाठी का उक्त मत अत्यंत मूल्यवान् है और कबीर के समय को निश्चित करने में बड़ी सहायता देता है।

पांडेयजी का अभिमत, कि 'ना-नारद इक जुहले सो' हारा सैकरा भरई' में "सैकरा" कबीर की शतायु की ओर संकेत करता है, विचारपूर्ण है और "सैकरा भरई" यदि जुलाहों पेशे की किसी क्रिया को ही ओर संकेत नहीं करता तो वह कबीर की जीवनी के एक तथ्य के निश्चय में अत्यंत सहायक होगा। हाँ, यह कहना कि—

बारह बरस बालपन खोयो, बीस बरस कछू तप न कियौ।
तीस बरस कै राम सुमिरयो, फिरि पछितान्यौ बिरध भयौ॥
कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०७, २४३; ३०९, १५१।

इसमें सामान्य कथन न करके कबीर ने अपने ही बाल्यकाल, यौवन, बुढ़ापे इत्यादि का विस्तार बताया है, अतिमात्र है।

कबीर और सिकंदर लोदी

(वीणासे उद्धृत)

आजकल बहुमत कबीर को सिकंदर (शासनकाल, स० १५४८ से १५७४) का समकालीन मानता जान पड़ रहा है। इस मत का प्रधान आधार किंवदन्ती है। यह प्रवाद प्रचलित है कि हिंदू और मुसलमान दोनों को जब कबीर ने अपनी तीव्र आलोचनाओं का वेभ्फा बनाया तब तिलमिला कर दोनों ने सिकंदर लोदी से शिकायत की। कबीर की माता का भी उन्होंने अपनी तरफ मिला लिया। इस शिकायत में प्रधान हाथ शेख तकी का समझा जाता है। कबीर पकड़ कर दरबार में लाये गये। उन्होंने सिकन्दर को सलाम नहीं किया। राजा राम का सेवक किसी दुनियावी सुलतान की क्या परवाह करता। सिकदर और भी जल भुन गया। हाथ पाँव बाँध कर कबीर गगा में डाल दिये गये, किंतु वे फिर भी किनारे पर सकुशल खड़े पाये गये। फिर वे आग में डाले गये, मतवाला हाथी उनके ऊपर झुकाया गया; किंतु उनके प्राण लेने का कोइ उपाय सफल नहीं हुआ। आग उनके लिए शीतल हो गई, हाथी उनको कुचलने के बदले भाग खड़ा हुआ। अत में सिकन्दर होश में आया। उसे बड़ा भय हुआ कि

इतने बड़े महात्मा को मैंने व्यर्थ ही इतना दुःख दिया। परमात्मा इसका मुझे न जाने क्या दण्ड दे। वह कबीर के चरणों पर गिर पड़ा और भेंटरूप में जागीर स्वीकार करने की उनसे प्रार्थना करने लगा। धरती के समान सहिष्णु सन्त ने उसके अपराधों को क्षमा कर दिया परंतु उसकी भेंट स्वीकार नहीं की। जिसका देनेवाला राजा राम है, उसे पृथ्वी के भूपालों के सामने हाथ फैलाने की क्या आवश्यकता?

सत-समाज में यह प्रवाद अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। प्रियादास जी के समय में भी यह प्रवाद प्रचलित था। भक्तमाल की अपनी टीका में उन्होंने लिखा है—

> देश के प्रभाव फेरि उपज्यौ अभाव द्विज।
> आयौ बादशाह जू सिकन्दर सो नाँव है॥
> विमुख समूह सग माता हू मिलाइ लई।
> जाइ के पुकारे जू दुखायौ सब गाँव है॥
> लावो रे पकरि वाको, देखौं रे मकर कैसो।
> अकर मिटाऊँ गाढ़े जाकर तनाव है॥
> आनि ठाढ़े किये काजी कहत सलाम करौ।
> जाने न सलाम जामैं राम गाढ़े पाव है॥२७४॥
> बाँधि के जंजीर गंगा तीर मांझ बोरि दियो।
> फियौ तीर ठाढ़ो, कहै यन्त्र मन्त्र आवहीं॥
> लकरीन मद्ध डारि अगिनि प्रजारि दई।

नई मानीं भई देह कंचन लजावहीं ॥
बिफल उपाइ भये तऊ नहिं आइ नये।
तब मतवारो हाथी आनि के झुकावहीं ॥
आवत न ढिग औ चिघारि हारि भाजि जाइ।
आइ आप सिंहरूप बैठे शोभा गावहीं ॥२७५॥
देख्यो बादशाहि भाव कूदि परे गहे पावं।
देखि करामाति मात भये सब लोग है ॥
प्रभु पै बचाइ लीजै हमें न गजब कीजै।
लीजै सोई भावै गाँव देश नाना भोग है ॥
चाहैं एक राम जाको जपैं आठौ जाम।
और दाम सों न काम जामें भरे कोटि रोग हैं ॥
आये घर जीति साधु मिले करि प्रीति।
जिन्हें हरि की प्रतीति वेई गायब के जोग हैं ॥२७६॥

दादूजी के शिष्य रज्जबजी (स० १६६० में विद्यमान) ने "सर्वाङ्गी" ग्रन्थ का संग्रह किया था। उसमें भी इस प्रवाद का उल्लेख है—

जन कबीर जरि जंजीर बोरे जल माहीं।
अगिन नीर गज ग्रास राखें किधौं नाहीं॥

गरीबदासजी (सं १७७४-१८३५) के नाम से इधर-उधर ग्रन्थों में जो उद्धरण मिलते हैं, उनमें भी इसका उल्लेख मिलता है। गरीबदासजी के अनुसार कबीर पर यह दोषारोपण किया गया

था कि मन्सूर की तरह वह भी खुदा होने का दावा करता है। कबीर ने इन शब्दों में अपना अपराध स्वीकार किया—

हम ही अलख अल्लाह हैं, कुतुब गोस गुरु पीर।
गरीबदास मालिक धनी हमरो नाम कबीर॥
मैं कबीर सर्वज्ञ हूँ सकल हमारी जात।
गरीबदास पिंड दान मे युगन युगन संग साथ॥

स्वभावतया कबीर-पंथी ग्रन्थों में यह कथानक बहुत अति-रञ्जित रूप में दिया गया है। निर्भयज्ञान,आदि कबीर-पंथी ग्रन्थों के अनुसार सिकंदर को जलन का रोग था। रोग-मुक्ति की आशा से सुलतान कबीर के दर्शनों के लिए आया और उसे तत्काल आरोग्य लाभ हुआ। इससे कबीर का प्रभाव बहुत बढ़ गया जो ईर्ष्यालु शेख तकी को असह्य हुआ। उसने कबीर को मरवा डालना चाहा। श्रद्धालु सिकंदर यह नहीं करना चाहता था किंतु शेख तकी से उसकी कुछ चली नहीं। उसकी बद्दुआ के डर से और इस विश्वास से भी कि कबीर का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता वह चुप हो रहा। तब शेख तकी के कहने से कबीर के प्राण लेने के ऊपर लिखे प्रयत्न किये गये। इस अवसर पर अनुराग-सागर आदि ग्रन्थों के अनुसार कबीर ने और भी कई चमत्कार दिखाये। कमालबोध ने तो यवन (ग्रीक) सिकंदर महान् और सुलतान सिकंदर लोदी को एक कर डाला है।

सिकंदर महान् की एक उपाधि जुलकरनैन है जिसका अनेक

प्रकार से अर्थ किया जाता है। यूनानी सैनिक दो सींगवाला टोप (शिरस्त्राण) पहना करते थे । इसलिए कोई उससे दो सींगवाला अर्थ समझते हैं। कोई उससे जगत् के दोनों कोनों (पूर्व और पश्चिम) को जीतनेवाला अर्थ लगाते हैं। अन्य लोगों के अनुसार उसका अर्थ बीस वर्ष राज्य करनेवाला अथवा दो सितारोंवाला या भाग्यशाली है। किंतु 'कमालबोध' मे इस शब्द की विचित्र निरुक्ति की गयी है । उसके अनुसार इस शब्द का अर्थ है जुलाहा का किया (बनाया) हुआ। कबीर जुलाहे का शिष्य होने के कारण ही सिकंदर महान् का इतना महत्त्व हुआ—

भये मुरीद जुलहा के आयी । तबही जुलकरन नाम धराई ॥

—कमालबोध (बोधसागर, पृ० १५११)

कुछ आधुनिक यूरोपियन विद्वानों ने भी कबीर के जीवन के संबंध में इन कथानकों पर विचार किया है। फरासीसी विद्वान् जी डी. टेस्सी ने अपने हिन्दुस्तानी साहित्य के इतिहास में, विल्सन ने अपने ग्रंथ "रिलिजस् सेक्ट्स् ऑफ दि हिंदूज" में वेस्कट ने अपने ग्रन्थ "कबीर ऐन्ड दि कबीर पन्थ" में तथा की ने अपने 'कबीर एन्ड हिज फॉलोअर्स" में इस संबंध में विचार किये हैं। इन सब विद्वानों ने कबीर के समय-निर्णय की कठिनाई स्वीकार किया है, परन्तु अन्त में विल्सन को छोड़ कर सबने प्रायः यही मत स्थिर किया है कि कबीर सिकंदर का समकालीन था। किंतु केवल इन कथानकों के ही आधार पर नहीं। उन्हें

कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य भी उसके अनुकूल जान पड़ा है। यद्यपि विल्सन का मत पूर्णतया इसके अनुकूल नहीं जान पड़ता फिर भी उन्होंने इस मत के पक्ष के सब आधारों को बड़ी अच्छी तरह से संक्षेप मे दे दिया है।

टेस्सी का हवाला देते हुए विल्सन ने लिखा है—'प्रियादास की टीका' में भी यही बात लिखी हुई है । 'खुलस्सत-अल-तवारीख' में भी यही लिखा है और अबुलफज्ल ने तो इस बात का अन्तिम निर्णय कर दिया है कि एकेश्वरवादी कबीर सिकंदर लोदी के शासनकाल में विद्यमान था। (आईन, २, ३८) (जी० डि० टेस्सी—Histoire de la literature Hindoustani, पेरिस, १८३९ और १८४७, भाग १ पृ० २७५; भाग २ पृ० ६)। विल्सन ने यह भी लिखा है कि "इससे कबीर-पंथियों में प्रचलित एक कथानक की भी पुष्टि होती है जिसके अनुसार सिकंदर शाह के सामने कबीर ने अपने सिद्धांतों को सत्य प्रमाणित किया था। फरिश्ता के अनुसार इस सिकंदर के शासनकाल में कुछ धार्मिक फसाद हुए थे जिनका संबंध संभवतः कबीर अथवा उनके शिष्यों से रहा हो।"†

आईने अकबरी' ऐतिहासिक दृष्टि से बहुमूल्य ग्रन्थ है। परन्तु कबीर के सम्बंध में उसमें भी जो कुछ लिखा है वह किंवदंतियों के आधार पर है । स्वयं आईने अकबरी से पता

† विल्सन पृ० ७२-७३

चलता है कि कबीर के सम्बन्ध मे अबुलफ़ज्ल की पहुंच परंपरागत बातों तक ही थी। फिर भी जिस बात को अबुल-फ़ज्ल जैसा इतिहास-बुद्धिवाला व्यक्ति लिखने-योग्य समझता उसका केवल परंपरागत होने पर भी हमारी दृष्टि में बहुत मूल्य होता। परन्तु वस्तुत. आईने अकबरी मे इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि कबीर सिकंदर का समकालीन था। कर्नल जारेट के अनुवाद को देखने से पता चलता है कि पुरी मे जगन्नाथजी के मन्दिर का वर्णन करते हुए आईन मे इतना ही लिखा है—"कुछ लोगों का कहना है कि एकेश्वरवादी (मुए 'हिद) कबीर वहाँ (कब्र मे) विश्राम करता है। उसके कथनों और कार्यों के विषय में आज तक बहुत सी प्रामाणिक परम्पराएं प्रचलित हैं। उसके ज्ञान और सिद्धान्तों की उदारता के कारण हिंदू और मुसलमान दोनों उसका आदर करते थे। उसके मरने पर ब्राह्मण उसके शव को दग्ध करना चाहते थे और मुसलमान दफ़नाना।"[१] इसको पढ़ने से पता चलेगा कि इन 'प्रामाणिक परम्पराओं' मे कबीर के सिकन्दर का समकालीन होना नहीं सम्मिलित है। ग्लैडविन के अनुवाद में इतना और लिखा है—[२] 'जब उन्होंने (ब्राह्मणों और मुसलमानों ने) कफ़न का कपड़ा उठाया तो शव का ही पता न था' परन्तु यद्यपि जारेट के अनुसार यह कथन

---

१ जारेट, भा० २, पृ० १२९

२ ग्लैडविन, पृ० ३१०

पुस्तक में कहीं नहीं है।[४] तथापि इसमें भी कहीं इस बात का उल्लेख नहीं है कि कबीर सिकंदर का समकालीन था। इस अतिरिक्त कथन से पता चलता है कि या तो कहीं-कहीं आईन में भी लोग नयी बातें जोड़ते गये हैं अथवा जिनकी सहायता से ग्लेडविन ने अपना अनुवाद प्रस्तुत किया है, उन लोगों ने आईन से बाहर की बातें भी अनुवाद में सम्मिलित कर दी हैं। सम्भवतः ऐसी ही कोई प्रति अथवा किसी सहायक का सहयोग टेस्सी आदि विद्वानों को भी प्राप्त हुआ होगा। और जो कुछ हो, इतना निश्चित है कि आईन से कबीर का सिकंदर का समकालीन होना सिद्ध नहीं होता।

खुलसत अल तवारीख को मैंने देखा नहीं है। उसका कोई अनुवाद देखने में नहीं आया। परन्तु वह बहुत बाद का बना हुआ इतिहास-ग्रन्थ है। अतएव उसे आधार बनाकर कबीर के संबंध में किसी असंदिग्ध परिणाम पर नहीं पहुँच सकते।

अब फ़रिश्ता का साक्ष्य लीजिए जिसके ग्रन्थ में विद्वानों को कबीर और सिकंदर के बीच के झगड़ों का संकेत सा मिलता दिखायी देता है। जिस स्थल का कबीर पर किये गये अत्याचारों से संबंध कहा जाता है, वह यह है—'सिंहासन पर बैठने से पहले उसका (सिकंदर) एक फ़क़ीर या साधु (अंगरेजी अनुवाद का शब्द "होली मैन" अर्थात् पवित्र पुरुष) से झगड़ा हो गया

४ जरेट, भाग ३, पृ० १२९, नाट ४

था। फ़कीर ने कहा था कि सुलतान को अपनी प्रजा के अधिकारों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है, न उसे उन घाटों पर स्नान करने से रोकने का अधिकार है, जिन पर वे युगों से स्नान करते चले आ रहे हैं। शाहज़ादे ने तलवार खींच ली और बोला "दुर्जन, क्या तू हिंदू धर्म को अच्छा बतलाता है।" फ़कीर ने उत्तर दिया, 'कदापि नहीं, पर मैं प्रमाणों के आधार पर कहता हूँ कि राजाओं को किसी भी कारण से प्रजा पर अत्याचार नहीं करना चाहिए।' इससे वह शांत हो गया।†

इसमें कोई ऐसी बात नहीं है, जिससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सके कि यह फ़कीर कबीर था। इसे कोई भी अहिंदू फ़कीर अथवा साधु कह सकता था जिसमें धार्मिक उदारता विद्यमान रही हो। कबीर और उसके शिष्य तथा प्रभावितों में अवश्य ही धार्मिक उदारता थी। धार्मिक उदारता मध्ययुग के सूफी फ़कीरों की विशेषता भी थी। अतएव जबतक कोई अन्य दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता तबतक केवल इसीके आधार पर हम कबीर को सिकंदर का समकालीन नहीं मान सकते। स्वयं विल्सन को इस बात में संदेह है कि इस झगड़े का सम्बन्ध कबीर ही से है। कबीर के शिष्यों से भी इसका सम्बन्ध होना वे सम्भव समझते हैं, जैसा कि उनके उद्धरण में रेखांकित शब्द से पता चलता है।

† जान ब्रिग्स का अनुवाद, हिस्टरी ऑफ दि राइज़ आफ दि मोहैमडन पॉवर, भाग १ पृ० ५८७

एक और स्थल ऐसा है जिसमें फ़रिश्ता ने सिकन्दर की एक कलंदर के साथ की बातचीत का उल्लेख किया है। "एक दिन अपने राज्य-काल के आरम्भ में जब वह (सिकंदर) अपने भाई बारबक के विरुद्ध लड़ने जा रहा था तब उसे एक कलंदर मिला। कलंदर ने कहा "परमात्मा आपको विजय दे" इस पर सिकन्दर ने जवाब दिया—"प्रार्थना करो कि विजय उसे मिले जो अपनी प्रजा की सब से अधिक भलाई करे।"† इसमें भी कोई ऐसी बात नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि यह कलंदर कबीर ही था।

अतएव कबीर के सिकन्दर का समकालीन होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। रहीं किंवदन्तियाँ। वे ऐतिहासिक प्रमाणों का स्थान ग्रहण नहीं कर सकतीं। प्रियादासजी आदि के अतिरंजित चमत्कारपूर्ण कथन तबतक इतिहासरूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते जबतक इतिहास-बुद्धि से स्वीकार करने योग्य स्वतंत्र प्रमाण से उनका समर्थन न हो जाय। ऐसे प्रमाण का अब तक तो सर्वथा अभाव ही दिखायी दे रहा है।

———

† वही, पृ० ५८६

कबीर के कुल का निर्णय

(वीणा से उद्धृत)

जाति न पूछो संत की पूछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥

स्वयं किसी जीवन्मुक्त संत के लिये अपनी जाति-पाँति का कुछ मूल्य नहीं। उसका संत होना ही इस बात का द्योतक है कि उसने 'जाति वरन कुल' खो दिया है। मुमुक्षु जिज्ञासु को भी संत की जाति से उतना मतलब नहीं रहना, उसके काम की चीज उसका तत्व-ज्ञान है जिसकी अनुभूति में वह अपने जीवन की सार्थकता मानता है। वह तो स्वयं उस मार्ग पर बढ़ चलता है जिस पर चलने में उसकी भी 'जाति वरन कुल' खो जाय। परन्तु जन-साधारण की ज्ञान-पिपासा प्रत्येक दशा में उस ऊँचाई तक नहीं पहुंची रहती जिसे जिज्ञासा कहते हैं, उनके 'क्यों, क्या और कैसे ?' की पहुँच कुतूहल ही तक होती है, जिसकी परिशांति बाह्य-वृत्त मात्र से हो जाती है। यही कुतूहल-वृत्ति हम अजिज्ञासुओं के हृदय में 'कबीर कौन थे ? किस समय हुए ?' आदि प्रश्नों का

उत्तर जानने की उत्कट इच्छा उत्पन्न करती है। जिज्ञासु की दृष्टि में वह एक कमजोरी है, परन्तु हमें उसके लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि उसी कमजोरी में हमारा बल है। संत-चर्चा में हमें वही प्रवृत्त करती है। जिन परिस्थितियों के कारण संतों को तत्वानुभूति की ओर अग्रसर होना पड़ा है, उनसे हमें अवगत करा कर सत्वोद्रेक के द्वारा वह हमारी मानसी अवस्था को तत्वग्रहण के लिए अधिक अनुकूल बना देती है और कुछ चाहे न भी हो, किसी भी व्यक्ति के जीवन की घटनाएँ उसके विचारों को समझाने के लिए अवतरणिका का काम तो अवश्य ही देती हैं। इसी बुद्धि से मैं आज कबीर के कुलान्वेषण में प्रवृत्त हुआ हूँ।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कबीर मुसलमान कुल मे परिपालित हुए थे। परम्परागत जन-श्रुति है कि नीरू जुलाहे और उसकी पत्नी नीमा ने उनका पालन-पोषण किया था। साधारण अवस्था में इसी से यह परिणाम निकाल लिया जा सकता था कि वे मुसलमान कुल में ही पैदा हुए थे। परन्तु इधर कई कथानक ऐसे चल पड़े हैं कि यह बात निर्विवाद नहीं मानी जा सकती। इसलिये पहले इन कथानकों पर विचार करना आवश्यक है। चुनार के पं० भानुप्रताप तिवारी[1] का कथन है कि कबीर की

---

१ कबीर शब्दावली, वेल्वेडियर (१९२६), प्रस्तावना, पृ० २

असल माँ एक हिन्दू विधवा (ब्राह्मणी) थी जो (अन्य लेखकों[1] के अनुसार अपने पिता के साथ) स्वामी रामानंद के दर्शनों को गयी थी। युवती के प्रणाम करने पर स्वामीजी ने 'पुत्रवती भव'[2] का आशीर्वाद दिया। महाराज रघुराजसिंह के अनुसार यह विधवा ब्राह्मणी स्वामी रामानद जी की सेवा में रहा करती थी। ध्यानस्थ अवस्था में धोखे से उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया था। युवती ने व्याकुल हो कर कहा, आप क्या अमङ्गल बात कहते हैं, मैं तो विधवा हूँ, मुझे पुत्र से क्या काम। तब रामानंदजी को भी खेद हुआ। परन्तु वे क्या करते, भवितव्यता तो मुह से निकल पड़ी थी, वह बिना हुए रह नहीं सकती थी। उन्होंने उसे यही आश्वासन देकर बिदा किया कि तुम्हें बदनामी न उठानी पड़ेगी (और बड़ा प्रतापी पुत्र-रत्न लाभ होगा)। पुत्र उत्पन्न होने पर युवती ने लोक-निन्दा के भय से उसे लहर तालाब में डाल दिया,

---

जहाँ से नीरू जुलाहे ने जो अपनी स्त्री का गौना लेकर आ रहा था,[3] उसका उद्धार किया।

कबीर-चौरा काशी के महन्तजी ने यह कहानी मुझ से कुछ और ही ढङ्ग से कही। उनका कहना है कि एक विधवा कुमारी फूल चुनने स्वामी रामानन्दजी की फुलवाड़ी में गयी और गोदी में फूल भरने लगी। जब स्वामीजी ने डाँटा तो बोली, फूल नहीं हैं पेट है। स्वामीजी ने कहा 'तथास्तु' और सचमुच उसके पेट रह गया, जिससे कबीर की उत्पत्ति हुई। शेष कथा ऊपर ही के तुल्य है। कबीर की देह फूलों से बनी थी, इसी लिए उनकी मृत्यु के बाद अन्त में फिर फूलों में बदल गयी।

पादरी अहमदशाह ने बगीचे के प्रसाद का श्रेय स्वामी अष्टानन्द को दे डाला जिन्होंने 'कबीर मन्सूर' के अनुसार कबीर के जन्म का वृत्तान्त सब से पहले स्वामी रामानन्द को सुनाया था। 'कबीर चरित्र बोध' के अनुसार भी स्वामी अष्टानन्दजी ने

३ 'कबीर सागर', 'बोध सागर' पृ० १४२९, 'स्वसंवेद बोध' स० ९, पृ० ६५ (बम्बई, स० १९६३)। विल्सन ने 'भक्त-माल' की एक ऐसी प्रति का उल्लेख भी किया है जिसमें लिखा है कि कबीर को 'अली जुलाहा ने पाया।' यह अंश जिसमें यह आया है, प्राइस के 'हिन्दी एण्ड हिन्दुस्तानी सेलेक्शन' कलकत्ता, भाग १ पृ० ८४ में संग्रहीत है।

तेज को लहर तालाब में उतरते देखा था और उसका समाचार स्वामी रामानन्द को सुनाया था।[४]

[५] अधिक विश्वासी भक्त कबीर पंथियों को तो कबीर को दस मास तक माता के गर्भ में रहने की झंझट में डालना भी अनुचित जान पड़ा। परम पुरुष होने के कारण उनके लिए वे अजन्मा हैं, इसलिए उन्होंने उन्हें देव दुदुंभि-नाद के बीच सीधे 'सत्य लोक' से लहर तालाब में फूले हुए कमल पर उतार कर कुल का सारा झगड़ा ही मिटा दिया है। घटना की सत्यता के प्रमाण के लिए स्वामी अष्टानन्द के नाम से एक गवाह भी पैदा कर दिया गया, जिस बेचारे के चरित्र पर, जैसा कहा जा चुका है, अहमद शाह को बड़ा सदेह हुआ है।

परन्तु कबीर को हिन्दू विधवा अथवा कुमारी का पुत्र मानने की प्रथा बहुत नवीन है। प्रियादासजी ने भक्त-माल की टीका में, जहाँ कई आश्चर्यजनक असभव सी घटनाओं का उल्लेख किया है, वहाँ इस बात की ओर सकेत तक नहीं किया। कबीर का मुसलमान होना, उनके बहु-सख्यक हिन्दू अनुयायियों को अपने

---

४ कबीर-सागर [बोध सागर], पृ० १७९०–१ कबीर चरित्र बोध पृ० ६-७ (श्री वेंकटेश्वर बम्बई स० १९६३), कबीर मसूर (परमानन्ददास कृत) पृ० १०२ को.—'कबीर एण्ड हिज फॉलोवर्स' पृ० २०।

५ विल्सन — रिलिजस सेक्ट्स् ऑफ दि हिन्दूज, पृ० ६९, पाद टिप्पणी।

लेए लज्जा की बात मालूम हुई होगी, इसी से उनके लिए एक हिन्दू माता की सृष्टि करनी पड़ी, उनको मुसलमान के घर में हुँचाने के लिये कारण प्रस्तुत करने के लिए इस नव सृष्ट माता ो विधवा बनाना पड़ा। हिन्दू भावों से ओतप्रोत कबीर की वेचार धारा इस कथानक का प्रसार करने में सहायक हुई। कबीर ने हिंदुओं के अंध-विश्वासों का विरोध किया है सही, परन्तु केवल इसलिए कि वे हिन्दुओं के उच्चतम दार्शनिक विचारों के प्रसार में बाधक थें। कबीर की इसी शास्त्र-सम्मत उच्च हिन्दू भावना के कारण मिस्टर विल्सन उनका मुसलमान होना असमव समझते हैं। जन-साधारण ने तो कबीर के मस्तिष्क में बहती हुई विचार-धारा का उनकी नसों में बहती हुई रक्त-धारा से आसानी से संबंध जोड़ लिया। मिस्टर विल्सन को तो यहाँ तक संदेह है कि हो न हो कबीर केवल एक कल्पित नाम (अथवा उपनाम या तखल्लुस) था, जिसकी आड़ में किसी हिन्दू स्वतंत्र चिंतक सुधारक ने हिन्दू धर्म की कुप्रथाओं पर आक्रमण कर के उसमें नवीनता लाने का प्रयत्न किया। किसी ने तो उसके लिए 'करवीर', एक हिन्दू नाम तक ढूंढ निकाला है, 'कबीर' जिसका विकृत रूप माना गया है। इस नाम के आधार पर कुछ लोगों ने अँगूठे से और कुछ ने हथेली से कबीर की उत्पत्ति मानी है। केवल इसी निरुक्ति से इस नाम को 'काल्पनिक'[१] न समझना

---

१ की—कबीर ऐण्ड हिज़ फौलोअर्स।

चाहिए। क्योंकि 'करवीर' का वास्तविक अर्थ कर्मण्य है, वह 'वाग्वीर' का विरोधी है। गुरुओं के ऐसे नाम बहुत हुआ करते हैं। परन्तु जब कबीर स्पष्ट ही अरबी का शुद्ध शब्द है और वे मुसलमान कुल में पाले ही गये थे तब इस प्रकार खींचातानी कर के संस्कृत से उसकी व्युत्पत्ति करने की आवश्यकता नहीं।

कुछ लोग कबीर को इस जन्म का नहीं पूर्व जन्म का हिन्दू मान कर उनके हिन्दू विचारों को पूर्व जन्म के संस्कारों से जनित भी मान सकते हैं।

'पूरब जनम हम ब्राह्मन होते वोछे करम तप हीना।
राम देव की सेवा चूका पकरि जुलाहा कीना[२]॥
और 'कहत कबीर मोहि भगति उमाहा।
कृत करणी जाति भया जुलाहा[३]॥

में कबीर पूर्व जन्म में अपने ब्राह्मण होने की कल्पना कर अपना परितोष करते से जान पड़ते हैं।[४] परन्तु वस्तुतः कबीर इसमें भक्ति हीन ब्राह्मणों को यह धमकी भरी चेतावनी दे रहे हैं कि मैं तो इस जन्म से ही जुलाहा हूँ, आगे आवागमन से मुक्त हो जाऊँगा, किन्तु तुम्हें अगले जन्म में जुलाहा बनना पड़ेगा।

'ज्ञान-सागर' में कबीर का पोषक पिता नीरू पूर्व जन्म का

---

२ श्यामसुन्दरदास—क० ग्र०, पृ० १७३, २५०

३ क० ग्रं० पृ० १८१, २७१

४ वही, प्रस्तावना पृ० ४५

ब्राह्मण बना दिया गया है। इस ग्रन्थ के अनुसार लहर तालाब से घर ले जाकर नीरू जुलाहा ने कबीर को जब पय-पान के बिना ही हृष्ट-पुष्ट होता हुआ देखा तब कारण पूछने के लिए स्वामी रामानन्द के पास पहुँचा। स्वामी जी ने बतलाया—

पूर्व जन्म तें ब्राह्मण जाती। हरि सेवा कीन्हसि भलि भाँती॥
कछु तुव सेवा हरि की चूका। तातें भया जुलाहा को रूपा॥
प्रीति प्रभु गहि तोरी लीन्हा। तातें उद्यान[5] में सुत दीन्हा[6]॥

कबीर के उपर्युक्त वचन से इस उद्धरण का इतना साम्य है कि जान पड़ता है कि उसी को देखकर 'ज्ञान-सागर'-कार को यह कल्पना सूझी होगी। इन कथानकों से आधुनिक प्रेतात्मावादी शायद कुछ परिणाम निकाल सकें तो निकाल सकें, मेरे बूते का यह काम नहीं।

यद्यपि कबीर हिन्दू भावों में निमग्न थे और मुसलमानी धार्मिक व्यवस्था का उनको अधकचरा ही सा ज्ञान था, फिर भी उनका मुसलमानीपन कभी-कभी सिर उठा-उठा कर अपना परिचय दे ही जाता है। कबीर ने मुसलमानी अंधविश्वासों का

---

५ इस उद्यान का काशी-कबीर चौरा के महंतजी कथित रामानदजी के उद्यान से कोई संबंध नहीं है।

६ ज्ञान सागर, (कबीर सागर या बोध-सागर सं० १ से सं० १९६३) पृ० ७४

.खूब विरोध किया है। सुन्नत[1] अजान[2] कुर्बानी[3] हज[4] इत्यादि की उन्होंने .खूब खिल्ली उड़ाई है। कुर्बानी के लिए जीव-वध से वे

---

१ सकति से नेह पकरि करि सुनति यह न बदूँ रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहिं करता तौ आपै कटि किन जाई ॥
हा तो तुरक किया करि सुनति औरति सो का कहिए।
अरध सरीरी नारि न छूटे आधा हिन्दू रहिए॥
क० ग्र०, पृ० १०७, ५९

२ मुला कहाँ पुकारै दूरि राम रहीम रह्या भर पूरि।
यहु तौ अल्लह गूँगा बहरा नाहीं देखै खलक दुना दिल माहीं ॥
वही, पृ० १०७, ६०

३ कुकड़ी मारै बकरी मारै हक-हक करि बोलै।
सबै जीव साइ के प्यारे उबरहुगे किस बोलै॥
वही पृ० ६२

४ सेख सबूरी बाहिरा क्या हज काबै जाइ।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौं कहाँ खुदाई ॥
वही पृ० ४३

हज काबै ह्वै ह्वै गया केती बार कबीर।
मीरा मुझ मैं क्या खता मुखा न बोलै पीर ॥
वही पृ० ४३, ९१

बहुत चिढ़ते थे[५] और जिसका दूध पिया जाता है उस गौ माता का मास भक्षण तो उनके लिए असह्य था। ऐसा करनेवालों के लिए उन्होंने बहुत कड़ी भाषा का प्रयोग किया है।[६] परन्तु जान पड़ता है कि उनके मुसलमानी संस्कार छिपे नहीं रह सकते, कहीं-कहीं पर जहाँ सिद्धान्त-निर्णय की ओर उनका ध्यान नहीं रहता है, वहाँ वे अवसर पा कर प्रगट हो जाते हैं।

कबीर कहा गरबियो ऊँचे देखि अवास।

---

५ यह सब झूठी बंदगी, बरिया पंच निवाज।
साचे मारै झूठ पढि, काजी करै अकाज॥

वही पृ० ४२, ५ (२२)

६ कबीर चला जाइ था आगै मिला खुदाइ।
मीरा मुझसौं यों कह्या किन फुरमाई गाइ॥

वही, पृ० ५२, २१

अर्थात कबीर परंपरागत मार्ग पर चला जा रहा था कि आगे से खुदा मिल गये।

प्रभु ने मुझसे कहा, "गाय की कुर्बानी की आज्ञा किसने दी है?"
तुरकी धरम बहुत हम खोजा। बहुत बजागर करैं ये बोधा॥
गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ये गाई॥
जा को दूध धाइ करि पीजै, ता माता को बध क्यों कीजै॥
लहुरे थकैं, दुहि पीया खीरो। ता का अहमक भकै सरीरो॥

वही पृ० [illegible]

काळि पर्‌यौ भ्वैं लेटणा उपर जामे घास[६] ॥
कबीर सूता का करै उट्ठि न रोवै दुक्ख।
जाका वासा गोर मे सो क्यों सोवे सुक्ख[७] ॥

इन बातों को वही कह सकता है जिसके कुल मे मुर्दों को दफ़नाने की प्रथा हो, जलाने को नहीं। इसी प्रकार 'अला एकै नूर उपनाया'; उबरहुगे किस बोलै' आदि भी मुसलमानी विचार हैं।

कबीर के एक दो पद ऐसे भी हैं जिनसे यह पता चलता है कि वे मुसलमान माता के पुत्र थे।

नित उठि कोरी गगरी आनै लीपत जीउ गयो।
ताना-बाना कछू न सूझै हरि रस लपट्यो ॥
हमरे कुल कउने राम कह्यो।
जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो।[८]

इससे जान पड़ता है कि नित्य कोरी हॉड़ी मे भोजन बनाना, चौका देना, राम भजना आदि बातें कबीर के घर मे नयी थीं, जिन्हें कभी चौका न देकर रोज एक हो हॉड़ी मे पकानेवाली माता व्यर्थ की तरद्दुद और कुप्रथा का विरोधी समझती थी।

ये स्वयं कबीर के वचन कहे जाते हैं, जो उनके मुसलमान

---

६ वही २१, १०
७ वही ५, १३
८ ग्रन्थ, पृ० ४६२

होने की सूचना देते हैं। परन्तु केवल इन्हीं से किसी परिणाम पर पहुँच जाना भ्रामक हो सकता है। "उबरहुगे किस बोलै ?" कयामत की सूचना देता है सही, परन्तु वह मुसलमानों को मुसलमानी विचार-शैली ही से लाजवाब कर देने का प्रयत्न भी हो सकता है।[1] दफनाने की प्रथा से मुसलमान मानने में क्या भय है, इसका उल्लेख आगे किया जायगा। "हमरे कुल कउने राम कह्यो ?" वाले पद में स्वयं कबीर की माता की उक्ति देखना भी भ्रामक हो सकता है। वे माता के वचन न होकर माया के वचन भी हो सकते हैं। मायाविष्ट जन राम भजन नहीं कर सकते, उन्हें स्वच्छ संयत जीवन नहीं सुहाता, जप इत्यादि से वे कोई संबंध नहीं रखते, केवल जीविका-उपार्जन से उनका मतलब रहता है। अगर इस प्रकार के पदों को सहसा पारिवारिक स्थिति के अकाट्य प्रमाण मानलें तो हमारे हास्यास्पद स्थिति में भी पड़ जाने का डर है। और 'मुई मेरी माई हों खरा सुखाला'[2] में कबीर को अपनी इस मुसलमान माँ के मरने पर उसी प्रकार ख़ुशी मनाते मानना पड़ेगा जिस प्रकार हिन्दू पिता (!) "बड़ गोसाईं" को पा जाने पर।[3] परन्तु वस्तुतः यहाँ कबीर अपनी जननी की

१—क० ग्र० प्रस्तावना, पृ० ४६

२—वही, पृ० ३०९, १५० बाप दिलासा मेरो कीन्हा। सेज खुलासी मुख अमृत दीन्हा। सतगुरु मिले त मारग दिखाया, जगत-पिता मेरे मन भाया॥ ३—वही, वही।

वापि वैसी करी पूत ऐसी मरी
तिहुरे लोक परसिध कबीरा ॥[२]

दोनों का उद्देश्य दिखलाना है कि मनुष्य का भला बुरा होना उसके कुल या जाति पर निर्भर नहीं है, कुलीनता और अभिजात्य का गर्व झूठा है। जिसके कुल मे गोवध होता था, शेख शहीद और पीर माने जाते थे, जिसके बाप ने इन सब कामों को किया, उसी कबीर ने ऐसा आचरण किया कि तीन लोक नो खंड में प्रसिद्ध हो गया। अतएव निस्सन्देह कबीर मुसलमान कुल में उत्पन्न हुए थे।

स्वयं कबीर ने अपने मुसलमान होने का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, फिर भी वे अपने को जुलाहा कहते-कहते थकते नहीं हैं—

"जाति जुलाहा मति को धीर हरपि-हरपि गुण रमै कबीर।"[३]
"मेरे राम की अभय पद नगरी कहै कबीर जुलाहा।"[४]
"तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलहा, चीन्हि न मोर गियाना ?"[५]
"जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि-बनि फिरों उदासी।"[६]
'कहत कबीर मोहि भगत उमाहा'

२—ग्रन्थ पृ० ६९८—
३—क० ग्र० पृ० १२८, १२४
४—वही, पृ० १३१, १३४, ५—वही, पृ० १७३, १५०
६—वही, पृ० १८१, २७०

कृत करणी जाति भया जुलाहा।"[७] इत्यादि इत्यादि।

अपने जुलाहेपन का ऐलान वे ऊँचे से ऊँचे स्वर में और ऊँचे से ऊँचे बुर्ज से करने के लिए तैयार रहते थे। यह भी उनके मुसलमान होने एक पुष्ट प्रमाण है।

वे जुलाहा कुल में केवल पाले-पोषे ही नहीं गये थे, पैदा भी हुए थे। रज्जबदास संग्रहीत 'सर्वांगी' में दी हुई निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात को बहुत स्पष्ट शब्दों में पुष्ट करती हैं—

जुलाहा प्रभे उतपनो साध कबीर महामुनी।'

उत्तम ब्रह्म सुमिरणं नाम तस्मात् कि नाति (ज्ञाति) कारणम्।[८]

ये पंक्तियाँ रज्जब की ही अथवा उनके किसी समकालीन सन्त की जान पड़ती हैं, क्योंकि इनके साथ ही दादू का भी उल्लेख हुआ है। रज्जबदास दादू के शिष्य थे। दादू का जन्म सं० १६०१ में और मृत्यु सं० १६६० में हुई थी। कबीर की मृत्यु सं० १५०५ में[९] हुई थी, अन्य विद्वान् सं० १५७५ में[१०] भी मानते हैं। इस प्रकार दादू कबीर के समकालीन न होने पर भी काफी समीप काल के हैं। वे कबीर के बड़े श्रद्धालु भक्त भी थे। इससे उनके

७—वही, वही, २७१

८—'सर्वांगी' (भजन प्रताप को) अंग २२, (अन्य साध महिमा), १३

९—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १५, अंक १, पृ० ५७-५८

१०—कबीर ग्रं० प्रस्तावना, पृ० २१-२२

निर्गुण सम्प्रदाय के बीच की सूक्ष्म कड़ी है, जिसका पता ज़रा टटोलने से लगता है।

यह एक अर्थ-पूर्ण तथ्य है कि कातना-बुनना आसाम और बंगाल में जोगियों का, जिन्हें वहाँ जुगी कहते हैं एकमात्र आनुवंशिक व्यवसाय माना जाता है। आसाम में इनकी प्राय. दो जातियाँ हैं एक सूत कातने का काम करती है और दूसरी बुनने का। पहली जाति कटनी[3] कहलाती है और दूसरी कहीं पाछुपोह[4] कहीं केवल जुगी और कहीं कहीं कनकुरली[5] भी, जो उनके कनफटे होने का संकेत देता है। अब ये यद्यपि खेती-बारी आदि अन्य व्यवसायों में भी लगने लगे हैं, फिर भी इनका प्रधान व्यवसाय कताई-बुनाई ही माना जाता है। हिंदू-राजाओं के समय में ये लोग रेशम के कीड़े पाल कर पोत बनाया करते थे। बंगाल के चटगाँव नोआखाली आदि ज़िलों में भी 'जुगी' कातने-बुनने का ही व्यवसाय करते हैं।[6]

सन् १९३०) पृ० ३८५-४०१ मुझे हर्ष है कि बाबू श्यामसुन्दरदास पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय (हिंदी भाषा और साहित्य का विकास) और पं० परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वानों का यह मत मान्य है (हिंदुस्तानी त्रैमासिक)

३ डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर, शिवसागर पृ० ८४, ८६

४ डि० ग० नौगाँग

५ डि० ग० दुरंग, पृ० ८५

६ डि० ग० चटगाँव, पृ० ६० नोआखाली, पृ० ९८ नाआखाली पृ० ३७

सवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में समस्त देश में
८ सिद्ध योगियों और नाथों का, जो बौद्ध परम्परा में माने
हैं, विशेष प्रभाव रहा है। ये थे तो बौद्ध परम्परा में परन्तु
धर्म की कोई बात उनमें रह न गयी थी। उस हिन्दू
ध्यात्मिक-विचार-परम्परा उनमें पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गयी
। हाँ, सामाजिक व्यवस्था की उन्हें परवा न थी। जन-
धारण में उस समय इन्हीं का विशेष आदर होता था। इन
गों में नीच जातिवालों की कमी नहीं थी। हाली पाव। भंगी)-
म्हारी पाव (कुम्हार), मीन पाव (मछुवा), चमरिया (चमार)
ते पा (कोरी) कम्परिया (लुहार), कंथली पा, (दरजी)
ादि नाम इस बात के साक्षी हैं[1]। उनका प्रभाव भी नीची
जातियों पर ही अधिक पड़ा। कृषि के बाद जन सामान्य के लिए
भारत में कातना-बुनना ही सब से बड़ा धन्धा था। बंगाल-
आसाम में भी कपड़े बुनने का काम विशेष रूप से होता था।
ढाका की मलमल तो मस्त हो गयी है। इसलिए नीची जाति-
वालों ने वही पेशा पकड़ा और इसीलिए वहाँ अधिकतर जोगी
ताँती ही मिलते हैं।

यह भी अनुमान होता है कि मुसलमानों के राजनीतिक और

१ गंगा, पुरातत्वांक (भा० ३ अंक १), 'मंत्रयान, वज्रयान और
चौरासी सिद्ध' लेख में महत राहुल सांकृत्यायन की तालिका पृ०
२२४। पहले दो नाम उस तालिका में नहीं हैं।

धार्मिक अत्याचार के सामने ये लोग ठहर नहीं सके और उनमे से, खास कर पश्चिमी भागों के कोरी (तॉंती) मुसलमान हो गये, और जुलाहे कहलाने लगे। लामा तारानाथ के अनुसार जोगी पहले बौद्ध ही थे । किन्तु पीछे मुसलमानों से विरोध न दिखाने के उद्देश्य से ईश्वर (शिव) के उपासक हो गये,[2] टेसिटरी का कहना है कि विरोधी धर्मवाले शासकों को प्रसन्न करने और राजनीतिक सुभीतों के लोभ से उन्होंने ऐसा किया। टेसिटरी ही के अनुसार मांसाहारी होने पर भी जोगी गोमांस और सुअर का मांस दोनों से परहेज करते हैं[3] जिससे इस मत का समर्थन हो जाता है । क्योंकि इससे यह पता चलता है कि हिन्दू धार्मिक विश्वासों को तो वे छोड़ना नहीं चाहते थे, साथ ही ऐसा काम भी नहीं करना चाहते थे जो मुसलमानों को बहुत अप्रिय लगता हो। यह सब इसलिए आवश्यक था कि मुसलमानों की बौद्धों पर विशेष क्रूर दृष्टि थी। उनका बुत-विरोध मूल रूप में बुद्ध-विरोध था। दोनों की मुठभेड़ फारस दमस्क आदि स्थानो

---

२ तारानाथ–गिश डेस बुद्दिस्मस इन इंडोन, माटिया से शिफ्नर का जर्मन अनुवाद, सेंटपीटर्सबर्ग, १८६९ ई०, पृ० १७४, २५५, और ३२३, इसाइक्लोपीडिया आव रिलिजन ऐंड एथिक्स, में 'गारखनाथ' नामक लेख में ग्रियर्सन द्वारा उल्लिखित ।

३ इसाइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐंड एथिक्स में 'योगियों' पर टेसिटरी का लेख ।

में ही आरम्भ हो गयी थी। मौलाना सुलेमान नदवी के 'अरब और भारत के सम्बन्ध' शीर्षक व्याख्यानों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह हालत तो बंगाल और आसाम की है जहाँ मुसलमान बहुत पीछे पहुँचे, जब कि संभवतः उनका अन्धा जोश बहुत कुछ ठण्डा पड़ गया होगा और उनमें राजनीतिक विचारो-वार्य का अंकुर उग आया होगा। बिहार, युक्तप्रान्त और पश्चिमी प्रान्तों में तो जहा मुसलमानों का जोश सोलहो हालत में पहुंचा होगा अधिकांश कोरियों को मुसलमान हो जाना ही सूझा होगा। इसी से वहाँ जुलाहों की इतनी अधिकता है जब कि बंगाल और आसाम में वे नहीं के बराबर हैं, बाहर उनके स्थान पर 'जुगी' 'तॉती' हैं।

अवश्य ही बंगाल और आसाम के तॉतियों को छोड़ कर और कोरियों पर योगियों का प्रभाव समय की इतनी अधिक दूरी से और परिस्थितियों के बदल जाने से अब उतना अधिक नहीं दिखायी देता, परन्तु बंगाल और आसाम के तॉतियों के उदाहरण से ही स्पष्ट है कि जिन देशों में सिद्ध योगियों का प्रभाव अधिक रहा है, वहाँ के कोरी बहुधा योगी हो गये थे। कबीर का जन्म-स्थान परम्परा से काशी माना जाता है, मैं मगहर मानता हूँ। काशी का बृहत् तथा प्राचीन गोरखटीला और कालभैरव का मन्दिर तान्त्रिक योगियों के प्रभाव के परिचायक हैं। कालभैरव मूलतः योगियों का ही देवता है। कालभैरव को काशी

के कोतवाल का पद मिलना इस बात की सूचना देता है कि कभी काशी में योग का बड़ा भारी प्रभाव था। जब स्वय शिव ही योगिराज हैं, तब उनकी नगरी ही योग के प्रभाव से कैसे बच सकती थी।

गोरखपुर के आस पास भी निस्सन्देह ही योग मार्ग का ख़ूब प्रचार रहा होगा। गोरखपुर में योगियों का एक बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। जिन लोगों में से पहले पहल कबीर के अनुयायी हुए और जिन लोगों में उन अनुयायियों ने कबीर के मत के प्रचार की सभावना देखी, उनमें गोरखनाथ का विशेष आदर रहा होगा, तभी तो इस बात की आवश्यकता हुई कि कबीर गोरखनाथ से बड़े प्रमाणित किये जायँ। बहुत से जोगी तो मुसलमान हो जाने पर भी अब तक जोगी ही बने हुए हैं। मिस्टर कूक के अनुसार सभवतः सन् १८९१ में पश्चिमोत्तर प्रात और अवध के कुल ९५९८० जोगियों में से १७५९३ मुसलमान जोगी थे।[१] गोरखनाथ का आदर सभी प्रकार के जोगियों में होता है। मेरी समझ से कबीर भी किसी प्राचीनतया कोरी किंतु तत्कालीन जुलाहा कुल के थे जो मुसलमान होने के पहले जोगियों का अनुयायी था। उनके कुल में यद्यपि वाहर से मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया गया था फिर भी परम्परागत धर्म से उसका मानसी संबंध छूटी

१ 'दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स ऑव दि नॉर्थ वैस्टर्न प्रॉविन्सेज़ ऐंड अवध' भाग ३, पृ० ५९

नहीं।[२] योग की जो बातें उनके कुल की मानसी-स्थिति का अभिन्न स्वरूप थीं वे छोड़ी भी कैसे जा सकती थीं। कबीर का यही कुल-परम्परागत मानसी स्वरूप उन्हें इस्लाम के विरोध में उभाड़ा करता था और हिन्दुओं की उच्च दार्शनिक भावनाओं का अभिनन्दन करने के लिए बाध्य करता था। अन्त में जब उन्होंने अपने विचारों का प्रचार आरम्भ किया तब उनकी 'अटपटी' वाणी में उसका स्पष्ट प्रतिरूप दिखायी दिया।

कबीर के कुल के सम्बन्ध में इस दृष्टि से विचार करने से उनकी विचार-धारा की बहुत-सी बातें जो अब तक समस्या के रूप में प्रकट होती थीं, स्वयं ही हल होकर वास्तविक रूप में दिखायी देने लगेंगी। और, इस प्रकार कबीर का मुसलमान कुल में पालन-पोषण, मुसलमानी विचार-शैली के प्रभाव से प्राय: कोरा रहना, उच्च हिन्दू भावनाओं से ओत प्रोत उनकी विचार-पद्धति, कुछ साधारण हिंदू प्रथाओं और धारणाओं का विरोध तथा उनकी योग शब्दावली गर्भित उक्तियाँ सब, का सामंजस्य बिना किसी ऊहापोह के घटित हो जायगा।

---

२ हो सकता है कि मुर्दा गाड़ने की ओर स्थान-स्थान पर उन्होंने जो संकेत किया है, वह भी उनकी जोगी-परंपरा का ही प्रसाद हो, यद्यपि 'गोर' शब्द से [जाका बासा गोर में सो क्यों सोवे सुक्ख] इसका बहुत कुछ निराकरण भी हो जाता है।

मीराबाई और वल्लभाचार्य

(हिन्दुस्तानी से उद्धृत)

मीराबाई[1] की साधुसेवा प्रसिद्ध है। सत्संग उसे बहुत प्रिय था। रैदास को परंपरा उसका गुरु मानती है। प्रियादास के अनुसार गौड़ीय संप्रदाय के प्रसिद्ध जीव गोस्वामी को मीरा के लिए स्त्री का मुंह न देखने का अपना व्रत भंग करना पड़ा था। गोसाईं तुलसीदास के साथ मीराबाई के पत्र व्यवहार की जन-श्रुति प्रसिद्ध है। वल्लभाचार्य जी का नाम भी मीराबाई के साथ आता है, इसकी चर्चा आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में होते नहीं देखी गई है। ऊपर जिन अन्य महात्माओं के नाम लिए गए हैं मीराबाई से उनका सम्बन्ध अनुकूलता का है, किंतु वल्लभाचार्य जी का सम्बन्ध कुछ भेदभाव-युक्त जान पड़ता है।

उनके इस भेद-भाव का पता वल्लभ-संप्रदाय की पुस्तक 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से चलता है। इस वार्ता-पुस्तक की इकतालीसवीं वार्ता में लिखा है कि एक बार गोविन्द दुबे नामक आचार्य महाप्रभु का एक 'निज सेवक' मीराबाई के घर ठहरा

१ 'राजस्थान में नाम मीराँबाई है। हिंदी में 'मीरा' चल पड़ा है। उसके स्थान पर फिर 'मीराँ' करना उचित नहीं जान पड़ता।

ओर वहां भगवद्वार्ता में रमा रह गया। वल्लभाचार्य जी ने जब इस बात को सुना तो (उनके पुत्र) श्री गुसाईं जी (विट्ठलनाथ) ने गोविंद दुबे को एक श्लोक लिख भेजा। जिस समय गोविंद दुबे के पास वह पत्र पहुँचा, उस समय वह संध्यावंदन कर रहा था। उसे पढ़ते ही गोविंद दुबे वहाँ से ऐसा चला कि पीछे फिर कर भी न देखा। मीराबाई ने कितना समझाने का प्रयत्न किया पर वह रुका नहीं।[१]

कृष्णदास अधिकारी की वार्ता से पता चलता है कि आचार्य महाप्रभु के कुछ 'निजसेवक' मीराबाई को नीचा दिखाने का भी प्रयत्न किया करते थे। उससे इस विरोध के कारण का भी कुछ पता चलता है।

कृष्णदास अधिकारी एक बार द्वारिका गया। वहाँ से रणछोड़

---

१ "और एक समय गोविंद दुबे मीरांबाई के घर हुते। तहां मीरांबाई सों भगवद्वार्ता करत अटके। तब श्री आचार्य जी ने सुनी जो गोविंद दुबे मीरांबाई के घर उतरे हैं सो अटके हैं। तब श्री गुसाईं जी ने एक श्लोक लिखि पठायो सो एक व्रजवासी के हाथ पठायौ तब वह व्रजवासी चल्यौ सो वहां आय पहुँचौ, ता समय गोविंद दुबे संध्यावंदन करत हुते। तब व्रजवासी ने आयकें वह पत्र दीनो। सो पत्र बाचि कें गोविंद दुबे तत्काल उठे तब मीरांबाई ने बहुत समाधान कीयो परि गोविंद दुबे ने फिरि पाछें न देख्यौ।"—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', (गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, मुंबई) १९८५, पृ० १६२

जी के दर्शन करके वह मीराबाई के गाँव आया। वहाँ हरिवंश व्यास आदि कई प्रतिष्ठित वैष्णव ठहरे हुए थे। किसी को आए आठ किसी को दस, किसी को पंद्रह दिन हो गये थे। कृष्णदास ने आते ही कहा, 'मैं चलता हूं'। मीराबाई के बहुत रोकने पर भी वह न रुका तब मीराबाई ने श्रीनाथ जी के लिए कई मुहरें भेंट देनी चाहीं। पर कृष्णदास ने लीं नहीं और कहा कि तू आचार्य महाप्रभु की सेवक नहीं होती है इसलिए हम तेरी भेंट हाथ से छुएँगे भी नहीं। यह कह कर वह चल दिया।[1]

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य जी के अनुयाइयों का उससे कुछ सीमा तक अवश्य ही इस कारण विरोध

---

१ "सो वे कृष्णदास शूद्र एक बेर द्वारिका गये हुते। सो श्री रणछोड़जी के दर्शन करि के तहां ते चले। सो आपन मीरांबाई के गाँव आयौ, सो वे कृष्णदास मीरांबाई के घर गये, तहां हरिवंश व्यास आदि के विशेष सह वैष्णव हुते। सो काहू को आये आठ दिन काहू को आये दश दिन काहू को आये पंद्रह दिन भये हुते। तिन की बिदा न भई हुती और कृष्णदास नें तौ आवत ही कही जो हूँ तौ चलूँगो। तब मीरांबाई ने कही जो बैठो तब कितनेक महोर श्रीनाथ जी को देन लागी। सो कृष्णदास नें न लीनो और कह्यो जो तू श्री आचार्य जी महाप्रभून की नाहीं होत तातें तेरी भेंट हाथ ते छूवेंगो नाहीं। सो ऐसे कहि कें कृष्णदास वहां तें उठि चले।"—'८४ वार्ता', पृ० ३४३; डाक्टर धीरेंद्र वर्मा संकलित 'अष्टछाप', पृ० १९

था कि वह भी उनकी अनुयाइनी नहीं बनी। आरंभिक अवस्था में प्रत्येक संप्रदाय में स्वभावतया प्रचार और प्रदर्शन का भाव अधिक रहता है। वल्लभ-संप्रदाय भी इस बात का अपवाद नहीं था, यह स्वयं कृष्णदास अधिकारी के शब्दों से स्पष्ट है। कृष्णदास जब मीराबाई की भेंट फेर कर चला आया तो एक वैष्णव ने उससे कहा, तुम ने श्रीनाथ जी की भेंट नहीं ली। कृष्णदास ने कहा, भेंट की क्या पड़ी है। मीराबाई के यहाँ जितने भक्त बैठे थे उन सब की नाक नीची कर के भेंट फेरी है। इतने एक जगह कहाँ मिलते। ये भी जानेंगे कि एक समय आचार्य महाप्रभु का सेवक आया था। उसने भी जब भेंट नहीं ली तो उसके गुरु की तो बात ही क्या होगी।[1]

जान पड़ता है कि मीराबाई को वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित करने के कुछ प्रयत्न हुए थे। बाद को तो वल्लभ-संप्रदाय को मेवाड़ में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। '२५२ वार्ता' के अनुसार मीरा की देवरानी अजबकुँवरबाई को विट्ठलनाथ ने अपनी

---

१ "तब कृष्णदास ने कह्यो जो भेंट की कहा है परि मीराबाई के यहां जितने सेवक बैठे हुते तिन सबन को नाक नीचे करि कैं भेंट फेरी है। इतने इक ठौरे कहां मिलते। यहहू जानेंगे जो एक बेर श्री आचार्य जी महाप्रभून कौ सेवक आयौ हुतो ताने भेंट न लीनी तो तिनके गुरू की कहा बात होयगी।"—'८४ वार्ता', पृ० ३४३; 'अष्टछाप', पृ० १९

शिष्या बना लिया[1] और श्रीनाथ का मंदिर बन जाने पर औरंगजेब के समय में तो मेवाड़ वल्लभ-संप्रदाय का एक महत्त्व-पूर्ण केंद्र ही हो गया। किंतु स्वयं मीरा को दीक्षित करने का कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। मीराबाई का पुरोहित रामदास भी '८४ वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हो गया था। पर वह तब भी दीक्षित नहीं हुई। एक दिन रामदास मीराबाई के ठाकुर जी के आगे कीर्तन कर रहा था। उसने कीर्तन में आचार्य महाप्रभु का पद गाया। उसके समाप्त होने पर मीराबाई ने कहा, श्री ठाकुर जी का पद गावो। इस पर आचार्य महाप्रभु का अपमान समझ कर रामदास बड़ा क्रुद्ध हुआ और मीराबाई को बुरा-भला कहता हुआ उसके यहाँ से अपना कुटुंब ले कर चला गया। मीराबाई के बुलाने पर भी वह उसके यहाँ न गया। मीराबाई ने घर बैठे ही रामदास को वृत्ति देनी चाही, पर उसने यह कह कर नहीं ली कि आचार्य महाप्रभु पर तेरी 'समत्व' दृष्टि नहीं है, तेरी वृत्ति लेकर हमें क्या करना है? हमारे तो सर्वस्व आचार्य महाप्रभु ही हैं।'[2]

---

१ '२५२ वार्ता', पृ० १३०

२ "सो एक दिन मीराबाई के श्री ठाकुर जी कीर्तन करत हुते सो रामदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के पद गावत हुते तब मीराबाई बोली जो दूसरे पद श्री ठाकुर जी को गावो तब रामदास जी ने कह्यो मीराबाई सों जो अरे दारी रांड यह कौन को पद है यह कहा तेरो

ये उद्धरण इतने विस्मयकारक हैं कि सहसा इन पर विश्वास करने का जी नहीं चाहता। इसलिए देखना चाहिए कि 'वार्ता' और उसमें दी हुई ये घटनाएँ कहाँ तक प्रामाणिक हैं।

'वार्ता' की ऐतिहासिक प्रामाणिकता को जाँचने का कोई विशेष साधन उपलब्ध नहीं है। उसका रचयिता कौन है, इस का भी निश्चित ज्ञान हमें नहीं है। स्वयं 'वार्ता' में कहीं उसके लेखक का नाम नहीं दिया हुआ है। इधर कुछ लोगों का विश्वास चला आता रहा है कि यह वल्लभाचार्य के पौत्र और विट्ठलनाथ के पुत्र गोकुलनाथ की लिखी हुई है जिनका रचना-काल पंडित रामचंद्र जी शुक्ल के अनुसार सं० १६२१ से १६५० तक माना जा सकता है। (हिंदी-शब्दसागर, भूमिका, पृ० २०९) सं० १९०९-१९११ की नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में हरिराय

खसम को मूड़ है जो आ आज ते तेरो मुँहडो कबहूँ न देखूँगी तब तहा ते सब कुटुम्ब को लेके रामदास जी उठि चले तब मीराबाई ने बहुतेरे कह्यो परि रामदास जी रहे नाहीं...मीराबाई ने बहुत बुलाये परि वे रामदास जी आये नाहीं तब घर बैठे भेंट पठाई सोई फेरि दीनो और कह्यो जो राड तेरो श्री आचार्य जी महाप्रभून ऊपर समत्व नाहीं जो हम को तेरी वृत्ति कहा करनी है। हमारे तौ श्री आचार्य जी महाप्रभू सर्वस्व हैं।"—८४ वार्ता, पृ० २०७-२०८; 'पुष्टि दृढ़ाव' नामक निबंध में भी जो '२५२ वैष्णवन को वार्ता' के अंत में छपा है इस प्रसंग का उल्लेख है।—पृ० ५१९-५२०

के नाम से एक 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (सं० ११५-वीं) का उल्लेख है। आदि-अंत के अवतरणों से मालूम पड़ता है कि यह भी थोड़े से भेद से गोकुलनाथ की समझी जानेवाली वार्ता ही है। पर रिपोर्टवाली '८४ वार्ता' के आदि-अंत में भी रचयिता का नाम नहीं दिया हुआ है। रिपोर्ट के अनुसार, हरि· राय आचार्य जी का शिष्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ तथा पौत्र गोकुलनाथ दोनों का समकालीन था। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' में दी हुई गंगाबाई क्षत्राणी की वार्ता से पता चलता है कि गंगाबाई की मृत्यु के समय सं० १७३६ में हरिराय विद्यमान था। उस समय वह मेवाड़ में श्रीनाथ के मंदिर का महंत था। इसमें संदेह नहीं कि हरिराय तथा गोकुलनाथ ने ब्रजभाषा गद्य में अच्छी टीकाएँ लिखी हैं, जिन की भाषा 'वार्ता' ही के समान सुंदर और सजीव है। परंतु हरिराय के 'भावना', 'संन्यास-निर्णय', 'निरोध लक्षण' और 'शिक्षा-पत्री' तथा गोकुल· नाथ के 'सर्वोत्तम स्तोत्र टीका' आदि ग्रंथों में लेखकों के नाम स्पष्ट रूप से दिए हुए हैं, जब कि वार्ताओं में किसी का नाम इस प्रकार नहीं दिया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि 'वार्ता' किसी एक व्यक्ति की लिखी हुई नहीं है। संभवतः बहुत सी वार्ताएँ मूल-रूप में स्वयं आचार्य जी के मुख से सुनी गई होंगी। कुछ अन्य लोगों ने अपनी आँखों देखी कही होंगी। फिर परंपरा से कानोंकान चली आती होंगी। गोकुलनाथ या हरिराय

इनके लेखक तो क्या संग्रहकर्ता भी थे या नहीं, नहीं कहा जा सकता। परंतु इस से मीराबाई-संबंधी इन प्रसंगों की प्रामाणिकता में कोई अंतर नहीं आता। इन प्रसंगों के पीछे यदि ऐतिहासिक आधार न होता तो ये पीछे से 'वार्ता' में न आ पाते। मीरा का महत्व सर्वकालीन है। ऐसे व्यक्तियों को सब लोग अपनाने का प्रयत्न करते हैं। समय की दूरी जब तुच्छ कलहों की तात्कालिक तीव्रता को शिथिल कर डालती है तब ऐसे व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की इच्छा होती है, मतभेद दिखाने की नहीं। इससे जान पड़ता है कि इन बातों के पीछे अवश्य ऐतिहासिक आधार है। और ये इस समय की लिखी या कही हुई हैं जब कि अभी ताज़ी ही थीं। इनमें कोई बनावट भी नहीं जान पड़ती। यदि कोई बनावट हो तो अधिक से अधिक इतनी ही कि रामदास से मीराबाई के लिए जो दुर्वचन कहलाए गए हैं वे अतिरंजित हों। कृष्णदास वाला प्रसंग तो इतना निश्छल है कि इसके सर्वथा सत्य होने में कोई संदेह ही नहीं जान पड़ता।

ऐतिहासिक दृष्टि से इन घटनाओं में कोई असंभवता भी नहीं है। वल्लभाचार्य जी का जन्म सं० १५३५ में हुआ था और गोलोकवास सं० १५८७ में। ये तिथियाँ संप्रदाय में भी मान्य समझी जाती हैं और उसके बाहर भी। मीराबाई पहले महाराणा कुंभ की स्त्री समझी जाती थी। परंतु अब मुंशी देवीप्रसाद, श्री हर-

विलास सारड़ा और महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, राजस्थान के ये तीनों प्रमुख इतिहासविद् उसे एकमत हो महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र कुमार भोजराज की स्त्री मानते हैं। 'वार्ता' भी समय की दृष्टि से इसको पुष्ट करती है। मीरा के संबंध में अबतक जो कुछ ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे इतना निश्चित है कि मेड़ते के राव वीरमदेव के छोटे भाई रतनसिंह की इस पुत्री का जन्म सं० १५५५ के लगभग, विवाह १५७३ के लगभग, वैधव्य १५७५ के लगभग, और निधन १६०३ के लगभग हुआ।[1] इस प्रकार 'वार्ता' में दी हुई ऊपर की घटनाओं के सत्य होने में कोई ऐतिहासिक व्यवधान नहीं है। क्योंकि मीरा और आचार्य जी दोनों समकालीन थे।

'वार्ता' के ऊपर दिए हुए उद्धरणों से मीराबाई के महत्व पर बहुत प्रकाश पड़ता है। वह सब संतों का, संप्रदाय-भेद का विचार किए बिना, समान-रूप से आदर करती थी। उसकी बड़ी उदार धार्मिक भावना थी। वल्लभ-संप्रदाय की न होने पर भी उसने उनके मंदिर में भेंट भेजनी चाही। उसके विरोधियों ने भी उससे कटुवचन नहीं कहलाए। वह बड़ी सहिष्णु थी। कृष्णदास ने उसे नीचा दिखाने का प्रयत्न किया, रामदास ने उसे गालियाँ तक दीं, फिर भी उसे उद्विग्न नहीं कर सके। रामदास को तो वह घर बैठे वृत्ति देने तक को तैयार थी। उस

१ ओझा, 'राजपूताने का इतिहास', पृ० ६५०-६५१

के महत्त्व को वल्लभाचार्य जी स्वयं जानते होंगे। किसी सामान्य व्यक्ति को दीक्षा के लिए तैयार न करा सकने पर उनके भक्तों को उतनी खीझ न होती जितनी 'वार्ता' से प्रकट है।

वल्लभाचार्य जी भी उस काल के बहुत बड़े महात्मा थे। मीरा के साथ उनके भक्तों के बेढंगे व्यवहार में इनका हाथ कदापि नहीं हो सकता, किंतु मीरा से उनका अवश्य ही गहरा तात्त्विक भेद था, जिसने शिष्यों में आकर दूसरा रूप धारण कर लिया। गोविंद दुबे की वार्ता से पता चलता है कि यह भेद इतना गहरा था कि उस के कारण मीराबाई से अपने अनुयाइयों का संसर्ग भी वल्लभ संप्रदाय के कुछ आप्तजन अवांछनीय समझते थे।

मीराबाई ने भी मतभेद को छिपाया नहीं है। उसकी ओर से हमारे सामने दो अर्थ-गर्भित तथ्य हैं। जब कि सूरदास सरीखे महात्मा जो स्वयं दीक्षा देते थे, जिनके स्वयं बहुत से भक्त थे, वल्लभाचार्य जी के सेवक हो गए[1] तब भी मीरा ने उनसे दीक्षा नहीं ली। दूसरे, वल्लभाचार्य जी के पदों को मीरा अपने ठाकुर जी के उपयुक्त नहीं मानती थी। परिणाम इससे यह निकलता

---

१ 'गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतो। सो सूरदास जी स्वामी हैं आप सेवक करते सूरदास जी भगवदीय हैं। गान बहुत आछो करते तातें बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते"—'८४ वार्ता', पृ० २७२

है कि मीराबाई पर पहले ही से कोई गहरा रंग चढ़ा हुआ था,- जो वल्लभ-संप्रदाय के रंग से कदापि मेल नहीं खाता था। इस प्रकार '८४ वार्ता' के ये उल्लेख मीरा के मत को समझने में प्रकारांतर से हमारी मदद करते हैं।

वल्लभाचार्य जी के पुष्टिमार्ग में कृष्ण-भक्ति ही सार वस्तु है। इसी लिए वल्लभ-संप्रदायी कवियों ने कृष्णावतार की लीलाओं का विस्तार से वर्णन किया है। 'अष्टछाप' के यशस्वी कवियों की रचनाएँ जिन्होंने पढ़ी हैं, वे इस बात को जानते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि प्रत्यक्षतः मीराबाई भी कृष्णभक्त है। उसकी वाणी में स्थल-स्थल पर कृष्ण का उल्लेख है। उसका बहुत-सा अंश कृष्ण ही को संबोधित कर कहा गया है। मीरा ने स्वयं कहा है कि 'मोरमुकुटधारी' 'नंदनंदन' ही मेरे पति हैं। 'गिरिधर गोपाल' के अतिरिक्त किसी दूसरे से वह अपना संबंध ही नहीं मानती थी।[१] कृष्ण ही की बाँकी-साँवली छवि, टेढ़ी अलकों और त्रिभंगी मूर्ति पर उसकी लुभाई हुई आँखें अटकी रहती थीं।[२]

१। मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई।...
जा के सिर मोरमुकुट मेरो पति सोई॥—बानी, पृ० २४

२ निपट बंकट छवि अटके मेरे नैना निपट बंकट छवि अटके।
देखत रूप मदनमोहन को पियत मयूखन मटके॥
वारिज भँवर अलक टेढ़ी मनो अति सुगध रस अटके।

अपने आप को गोपी कल्पित कर वह भाग्यशालिनी गोपियों के भाग्य पर ईर्ष्या करती है—

श्याम म्हांसूँ ऐंडो डोलै हो।
औरन सूँ खेलै धमार म्हांसूँ मुखहू ना बोलै हो॥
म्हारी गलियाँ ना फिरै वाकै आँगन डोलै हो।
म्हारी अंगुली ना छुवै वा की वहियाँ मोरै हो॥
म्हारो अंचरा ना छुवै वाको घूँघट खोलै हो।
मीरा के प्रभु साँवरो रंग रसिया डोलै हो॥[1]

परन्तु यदि गहरे पैठ कर देखा जाय तो जान पड़ेगा कि उसका उतना ध्यान अवतार की ओर नहीं है जितना ब्रह्म की ओर। जिस नंद-नंदन गिरिधर गोपाल के विरह में वह 'अँसुअन की माला'[2] पोया करती है, जिसकी बाट जोहते उसकी 'छमासी' रात बीतती है[3], जिसके रूप पर मुग्ध होकर उसे लोक परलोक कुछ नहीं सुहाता[4], जिससे वह अपनी बाँह मुड़वाना और घूँघट

टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली टेढ़ी पाग लर लटके।
मीरा प्रभु के रूप लुभानी गिरिधर नागर नट के॥

१ बानी, पृ० ५३
२ इक बिरहिनि हम देखी अँसुवन की माला पोवे।—बानी, पृ० २३, ५१
३ एक टकटकी पथ निहारूं भई छमासी रैन।—वही, पृ० २३, ५२
४ जब से नंदनदन दृष्टि पड़यो माई।
तब से लोक परलोक कछु ना सुहाई॥—वही, पृ० २९, ६७

खुलवाना चाहती है[१], जिसके लिए वह घायल होकर तड़पती फिरती है[२], जिसको वह 'छप्पन भोग' और 'छत्तीसों व्यंजन' परसती है[३] जिस 'मिठ-बोला' के लिए विकलता ने उसको 'दिल की घुंडी' खोली है[४] वह पूर्ण ब्रह्म है।[५] उसी निर्गुण का सुरमा वह अपनी आँखों में लगाती है।[६] वह उसे पूर्ण-रूप से अपने अन्दर देखती है।[७] उस निर्गुण ब्रह्म का 'गगन-मंडल'

---

१ म्हारो अँगुली ना छुवै वाकी बहियां तोरै हो।
म्हारो अँचरा ना छुवै वाको घूँघट खोलै हो ॥—वही, पृ० ५३, ३

२ घायल फिरूं तड़पती पीर नहिं जाने कोइ ॥—वही, पृ० ५१-५२

३ छप्पन भोग छत्तीसो बिंजन सनमुख राखो थाल जो।—वही, पृ० ५२

४ साजन घर आवो मीठा बोला।......
तुम देख्यां विन कल न परत है, कर धर रही कपोला।
मीरा दासी जनम जनम की, दिल की घुंडी खोला ॥—वही, पृ० १७, ३२

५ मात पिता तुम को दियो तुम हीं भल जानो हो।
तुम तजि और भतार को मन में नहिं आनो हो।
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म पूरन पद दीजै हो।—वही, पृ० ८, १२

६ सुरत सुहागिन नार...निरगुन सुरमो सार।—वही, पृ० ३१,७२

७ मेरे पिया मोहिं माहिं बसत हैं, कहूँ न आती जाती।—वही, पृ० १०, १६

में निवास है ![1] गगन-मंडल में बिछी हुई सेज पर ही प्रिय को मिलने की उत्कंठा वह अपने मन में रखती है।[2] सुरति-निरति का वह दीपक बनाती है, जिसमें प्रेम के बाजार में बिकने वाला (अर्थात् प्रेम का) तेल भरा रहता है और मनसा (इच्छा) की बत्ती जलती रहती है।[3] उसका प्रेम-मार्ग उसे ज्ञान की गली में ले जाता है।[4] उसका मन सुरत की आसमानी सैर में लगा हुआ है।[5] वह अगम के देस जाना चाहती है, जहाँ

औरों के पिय परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजैं पाती।
मेरे पिया हिरदे में बसत हैं गूँज करूं दिन राती॥—वही,
पृ० २७, ६२

१ गगन-मंडल में सेज पिया की, किस विध मिलणा होय।—
वही, पृ० ४, ३

२ तेरा कोइ नहिं रोकनहार, मगन होय मीरा चली...।
ऊँची अटरिया लाल किंवड़िया, निरगुण सेज बिछी...।
सेज सुखमणा मीरा सोवै, सुम है आज घरी॥—वही, पृ० ११,१८

३ सुरत निरत का दिवला सँजोले, मनषा की कर बाती।
प्रेम हटी का तेल मना ले जगा करे दिनराती॥—बानी,
पृ० १०, १६

४ मान अपमान दोउ धर पटके निकली हूँ ज्ञान गली।—वही,
पृ० ११, १३

५ मीरा मनमानी सुरति सैल असमानी।—वही, पृ० १९, ४१

प्रेम की वापी में शुद्ध आत्मा हंस क्रीड़ा किया करते हैं।[१] राणा को डाट कर वह कहती है कि मैं आज की नहीं तब की हूँ जब से सृष्टि बनी है।[२] कबीर के मार्ग की भाँति उसकी भी ऊँची-नीची रपटीली राह है, जिसे वह 'झीना पंथ' (सूक्ष्म ज्ञान-मार्ग) कहती है।[३] निर्गुणियों का अभ्यास मीरा के निम्न-लिखित पद में आ गया है—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ री।
इन नैनन मोरा साहब बसता डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहां से झाँकी लगाऊँ री॥
सुन्न महल में सुरति जमाऊँ सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर बार बार बलि जाऊँ री॥[४]

---

१ चलो अगम के देस काल देखत डरै।
वहा भरा प्रेम का हौज हंस केला करै॥—वही, पृ० १३

२ आज काल की मैं नहिं राणा जद यह ब्रह्मण्ड छायो।—वही, पृ० ६७, ३२

३ ऊची नीची राह रपटीली, पाव नहीं ठहराइ।
सोच सोच पग धरू जतन से बार बार डिग जाइ॥
ऊचा नीचा महल पिया का हम सेचढ या न जाइ।
पिया दूर पथ म्हारा झीणा सुरत झकोला खाइ॥—वही, पृ० २७

४ वही, पृ० ३०, ६८। निर्गुणियों के अभ्यास के लिए देखिए

इसमे त्रिकुटी-ध्यान और भ्रू-मध्य-दृष्टि की ओर स्पष्ट संकेत है। मीरा का ध्येय है 'पूरन पद'।[1] निरंजन का वह ध्यान करती है।[2] अनाहत नाद को सुनाती है[3] और 'आदि अनादि साहब' को पाकर भवसागर से तर जाती है।[4]

यह कबीर की निर्गुण-भावना के सर्वथा मेल में है। उसी तात्पर्य के सहित कबीर की प्रायः सारी शब्दावली मीरा मे मिलती है। कबीर से यदि मीरा मे कोई अन्तर है तो यही कि मीरा को मूर्तियों से चिढ़ नहीं। प्रियादास[5] ने तो उसे अपूर्व

बड़थ्वाल 'निर्गुण स्कूल आव् हिंदी पोयट्री, (इण्डियन बुकशाप, बनारस), पृ० १३१-१९२

१ तुम प्रभु पूरन ब्रह्म, पूरन पद दीजे हो।—बानी, पृ० ८, १२

२ जा को नाम निरंजन कहिए, ता को ध्यान धरूंगी हो।—वही, पृ० २४, ५४

३ बिन करताल पखावज बाजे अनहद की झनकार रे।—वही, पृ० ४२, १

४ साहब पाया आदि अनादी नातर भव मे जाती।—वही, पृ० १, १

५ मेरती जनम भूमि झूमि हित नैन लगे,
पगे गिरधारीलाल पिताही के धाम मैं।
राना कै सगाई भई करी ब्याह सामा नई,
गई मति बूड़ि वा रँगीले घनश्याम मैं।

मूर्ति-पूजक माना है। इसके अनुसार, पिता के घर में ही उसका गिरिधर लाल की मूर्ति से प्रेम हो गया था। जब विवाहोपरांत पतिगृह जाने लगी तब उसने सब वस्त्राभूषण छोड़ माता-पिता से गिरिधर लाल की मूर्ति माँगी, उसी को अपना पति समझा और और अन्त में उसी मे समा गई।[1] कबीर के साथ

भाँवरें परत मन साँवरे रूप माँझ
तावरें सी आवें चलिबे कों पति ग्राम मैं।
पूछें पिता-माता "पट आभरन लीजिये जू"
लोचन भरत नीर कहा काम दान मैं।
—रूपकला-संपादित "श्रीभक्तमाल" (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९२६), पृ० ७२०

१ देवौ गिरिधरलाल जौ निहाल कियौ चाहौ,
और धन माल सब राखिए उठाय कै।
बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़्यो भारी,
रोय मिली महतारी, कही "लीजिये लड़ाय कै॥"
डोला पधराय हग हग सो लगाय चलीं,
सुख न समाय चाय, प्रानपति पाय कै।
—वही, पृ० ७२१
सुन बिदा होन गई राय राणछोर जू पै
छाडौ राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै।
—वही, पृ० ७२८

इस सादृश्य और भेद का कारण यह है कि उसने रामानन्द के शिष्य और कबीर के गुरुभाई रैदास से अथवा उसकी वाणी से आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त की थी। मीरां के नाम से मिलनेवाली वाणी में कई स्थान पर रैदास उसका गुरु बताया गया है।[1] कबीर के समकालीन और उससे पहले के

---

१. रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्ही सुरत सहदानी।

बानी, पृ० २०, ४१

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे धुर से कलम भिड़ी।

सतगुरु सैन दई जब आके जोत में जोत रली।

वही, पृ० ३६, १४

मीरां ने गोविंद मिल्या जी गुरु मिलिया रैदास।

वही, पृ० ३७, १

रैदास का समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। उसे पीपा (लगभग १३५०-१४०० सं०) का समकालीन और रामानंद का शिष्य मानते हुए इस संबंध में जो कुछ अनुमान लगाया जा सकता है उस से, मेरी सम्मति में, उसका मीराबाई का समसामयिक होना भी घटित नहीं होता। इसलिये संभव है कि मीराबाई ने उसके मुख से शिक्षा ग्रहण न कर उसकी रची 'वाणी' से शिक्षा ग्रहण की हो। गरीबदास (लगभग सं० १७७४-१८३५) ने कबीर को और चरनदास (जन्म लगभग सं० १७६०) ने 'भागवत' के शुकदेव को अपना गुरु माना है। इन असमसामयिक गुरुओं के स्पष्ट उदाहरणों को हम इसी अर्थ में ठीक

कुछ संतों तथा कबीर के अतिरिक्त रामानन्द जी के अन्य शिष्यों का यह विशेषता जान पड़ती है कि वे निर्गुण के प्रति अपनी ऊंची से ऊँची अध्यात्म भावना को मूर्तियों के समक्ष प्रकट करने में कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं मानते थे। नामदेव विठोबा की मूर्ति के सामने घुटने टेक कर निर्गुण निराकार की स्तुति करता था।[1] इसी प्रकार रामानन्द जी के अन्य शिष्य शालग्राम के प्रति आदर-भावना रखते थे। मीरा में भी यही बात थी। उस पर निर्गुण भावना का रैदासी रंग चढ़ा हुआ था। उसकी सगुण-भावना निर्गुण भावना का प्रतीक मात्र थी। वह अवतार भावना की विरोधिनी नहीं है परंतु उधर उसका उतना ध्यान नहीं। वल्लभ सम्प्रदाय के कवियों की भाँति उसका उद्देश्य कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना नहीं, अपनी अनुभूति का प्रकाशन करना था। वह परब्रह्म कृष्ण की गोपी थी। कबीर की भाँति वह प्रेम-लक्षणा अर्थात् दशवा भक्ति को माननेवाली थी, जो निर्गुण-मार्गियों की विशेषता है। जो कुछ रैदास ने राम का नाम लेकर कहा है वह मीरा ने कृष्ण का नाम लेकर। कदाचित् कृष्ण-नाम से प्रेम का कारण यह हो कि वह जन्मी भी कृष्ण भक्त परिवार

समझ सकते हैं। रैदास और मीराबाई के समय पर विचार एक अलग विषय है।

१. फर्कुहर 'आउटलाइन ऑव् दि रिलिजस लिटरेचर आव् इंडिया', पृ० ३००

में थी और व्याही भी कृष्ण-भक्त परिवार में। उसके पति के यशस्वी पूर्वज महाराणा कुंभ ने तो राधामाधव संबंधी मधुर काव्य 'गीतगोविन्द' पर सुन्दर टीका उस समय लिखी थी जब कि वल्लभ-संप्रदाय अभी अस्तित्व में नहीं आया था।

यह भी छिपा नहीं है कि वल्लभ-सम्प्रदाय भी प्रेम-मार्ग है परन्तु नवधा भक्ति का, जो निर्गुणोपासना का विरोधी है। 'भ्रमरगीत' में सगुण की आराधिका गोपियों के हाथों सूरदास ने निर्गुण ज्ञानी उद्धव की जो दुर्दशा करायी है उसमें निर्गुणोपासना के प्रति वल्लभ सम्प्रदाय की विरोध-भावना का स्पष्ट प्रतिबिंब है। यहाँ पर गोपियों के चुटीले तर्क की एकाध बानगी दे देना काफ़ी होगा—

> १—सुनिहै कथा कौन निर्गुण की रचि पचि बात बनावत।
> सगुन सुमेरु प्रगट देखियतु तुम तृन की ओट दुरावत॥
>
> २—रेख न रूप बरन जाके नहि ताको हमें बतावत।
> अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत॥

वल्लभाचार्य जी और मीरा के बीच गहरे तात्त्विक मतभेद के ही आधार पर हम 'वार्ता' में लिखित उपर्युक्त घटनाओं को उनके उचित रूप में समझ सकते हैं।

'मीराबाई'—नाम

(सरस्वती से उद्धृत)

मीराबाई के व्यक्तित्व के कारण उसका नाम हमारे लिए इतना प्रिय हो गया है कि साधारणतया हमें यह ध्यान भी नहीं आता कि उसमें कोई असाधारणता है और उसके सम्बन्ध में सोच विचार की भी आवश्यकता है। परन्तु यदि इस नाम पर थोड़ा भी विचार किया जाय तो पता चलेगा कि यह नाम है बहुत असाधारण।

इस नाम पर विचार करने के पहले यह उल्लेख करना आवश्यक है कि राजस्थान में जहाँ की रहनेवाली मीराबाई थी, नाम का उच्चारण मीराँबाई है। 'रा' का यह आनुनासिक उच्चारण व्याकरण की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आया है अथवा केवल राजस्थानी की उच्चारण मात्र की एक विशेषता है, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजस्थानी में विभक्तियों के पहले बहुवचन में विकारीरूप बहुधा ऑं-कारवाले होते हैं, जैसे "धण संभाले कंचुवो प्री मूछाँ रा बालि" में मूछाँ है। मुझे यह भी बतलाया गया है कि जैसे मीरा का मीराँ होता है, वैसे हीरा का हीराँ। इस 'आँ'-कार का चाहे जो कारण हो, 'मीरा' और 'मीराँ' है मूलतः एक ही चीज़। हिन्दी में मीराबाई चलता है,

फिर से मीरॉंशाई चलाने का प्रयत्न करना उचित नहीं। विभिन्न भाषाओं में एक ही नाम के अलग अलग उच्चारण देखे जाते ही हैं। मीरां से मीरा में जो परिवर्तन हुआ है, वह अपने आप हुआ है, किसी के सज्ञान प्रयत्न से नहीं।

ऊपर मैंने इस नाम की असाधारणता का उल्लेख किया है। यह बात नहीं कि हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग ही न हो। है तो, किन्तु बहुत विरल। अभी तक मुझे बाबू श्यामसुन्दरदास जी के द्वारा सम्पादित 'कबीर-ग्रंथावली' में आई हुई निम्नलिखित तीन साखियों तथा दादू के एक पद में 'मीरां' शब्द का प्रयोग मिला है—

चौहट्टे चिन्तामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीरां मुझ सूं मिहर करिइय, मिलौं ना काहू साथि॥

चिन्तामणि (आत्मा मायाविष्ट होकर जीव के रूप में) खुले बाज़ार (जगत् में) बिकने आई है। इसी से डाकू (यम) उस पर हाथ मार रहा है। हे प्रभू! मुझ पर दया कर। मैं किसी के साथ मिलना नहीं चाहता (मायोपाधिक जगत् में नहीं आना चाहता, निर्लेप रहना चाहता हूं जिससे जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाऊँ।)

कबीर चाला जाइ था, अगैं मिल्या खुदाइ।
मीरां मुझ सूं यूं कह्या, किन फुरमाई गाइ॥

कबीर परम्परागत मार्ग पर चला जा रहा था कि आगे खुदा

मिल गया। प्रभु ने मुझसे इस प्रकार कहा—'गो (-वध) की आज्ञा किसने दी है ?'

> हज काबै ह्वै ह्वै गया, केती बार कबीर।
> मीराँ मुझमे क्या खता, मुखां न बोलै पीर॥

(कबीर कभी हज्ज करने तो गये नहीं थे। भीतरी भाव को ही वे असली हज्ज मानते थे। इसी लिए उनका कथन है कि मैं न जाने कितनी बार काबे की हज्ज को हो आया हूं। फिर भी यदि (दुनियावी) पीर मुझसे बोलता नहीं, (मुझे भक्त नहीं मानता) तो हे प्रभु ! इसमे मेरा क्या दोष ? (दोष पीर की बहिर्मुख वृत्ति का है। साखी का उद्देश्य बहिर्मुख कर्मों की व्यर्थता सिद्ध करना है।)

इन साखियों मे, जैसा उनके साथ दिये हुए अर्थों से स्पष्ट है, 'मीराँ' का अर्थ प्रभु या ईश्वर जान पड़ता है। इस शब्द के माने मीर भी हो सकते हैं (मीर के सम्बन्ध मे आगे चलकर कुछ कहने की आवश्यकता पड़ेगी)। परन्तु वह इनमे खपता नहीं है। दूसरी साखी 'मीराँ' का अर्थ 'हे मीरो !' मानने मे बाधक नहीं, परन्तु उसका अर्थ ईश्वर मानने मे भी वह अड़चन नहीं डालती। तीसरी मे उसका अर्थ ईश्वर लगाना ही अधिक संगत है क्योंकि अन्यथा 'पीर' के विरुद्ध अपील सामान्य मीर के पास ले जाने के कोई माने नहीं। पहली साखी में तो 'मीराँ' के माने स्पष्ट ही ईश्वर हैं। बिना उसके यह माने लगाये उक्त

साखी का अर्थ ही नहीं बैठ सकता। इसलिए 'मीरां' के माने हुए 'प्रभु' और 'मीरांबाई' के 'प्रभु-पत्नी', 'परमात्मा की स्त्री'। और जो

मेरे तो गिरधर गुपाल, दूसरा न कोई।
जा के सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥

की तान से परिचित है वह जानता है कि यह कितना सच है।

दादू के पद में तो मीरॉं शब्द का यह प्रभु-परक अर्थ इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकार के संदेह के लिए स्थान ही नहीं रह जाता।*

अब प्रश्न यह उठता है कि यह मीरॉं शब्द है कैसा? यह किसी अन्य भाषा का तत्सम या तद्भव है या देशज? राजस्थान के एक प्रमुख विद्वान् से मैंने जब मीरावाई नाम के सम्बन्ध में पूछा तब उन्होंने कहा कि यह खास राजस्थानी का शब्द है। परन्तु उस दशा में उसका व्युत्पत्ति-सम्मत अर्थ क्या होगा, यह उन्होंने कुछ नहीं बताया। कबीर-वानी के कबीर-ग्रन्थावली के ढंग के अधिकांश हस्तलेख या तो राजस्थान में, या किसी राजस्थानी के लिए या किसी राजस्थानी के द्वारा, लिखे मिलते हैं इसलिए यदि मीरॉं राजस्थानी का अपना शब्द है तो उसका मूल चाहे

---

* दई दाना दिलदार मेरे कान्हा...
नेक नजर मेहर 'मीरॉं' बंदा मैं तेरा।
दादू दरबार तेरे खूब साहब मेरा॥
—म० म० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा

जो हो, यही अधिक सभव है कि जिस अर्थ में उसका प्रयोग कबीर-ग्रन्थावली मे हुआ है, राजस्थानी मे भी उसका वही अर्थ होगा। राजस्थानी शब्द मानने पर भी उसका मूल कहीं से ढूंढ़ना ही पड़ेगा। क्योंकि स्वय राजस्थानी बोली में इस नाम के अतिरिक्त कहीं उसका प्रयोग नहीं मिलता जिससे हम उसे राजस्थानी का मूलतः अपना अथवा देशज शब्द मान सकते। किसी शब्द को देशज मानने का भी अर्थ कभी कभी यही होता है कि हम उसका मूल नहीं जानते।

हिन्दू नारी का नाम होने के कारण पहली आशा यही होती है कि इसका मूल भारतीय होगा। परन्तु मीरा या मीराँ को संस्कृत से निकालना बहुत खींचतान से ही सम्भव हो सकता है। संस्कृत-कोशों में एक शब्द 'मीर' आता है, जिससे इसकी व्युत्पत्ति सम्भव हो सकती है। सिद्धांत कौमुदी मे फेंकने के अर्थ मे (प्रक्षेपणे) डुमिञ् धातु से क्रन् प्रत्यय लगा कर इसकी सिद्धि की गई है। थियोडोर ऑफ्रेक्ट और बेन्फी ने इसे 'मी' धातु से निकाला है। मोनियर विलियम्स के और सेंट पीटर्सबर्गवाले तथा अन्य कोशों मे सब जगह अर्थ सागर दिया गया है। (प्रभु, ईश्वर) नारायण का निवास सागर है। अतएव सम्भवतः बड़ी तोड़-मरोड़ के बाद मीरा के माने नारायण या ईश्वर लग सके। फिर भी संस्कृत में मीर शब्द का कहीं साहित्य में वास्तविक प्रयोग न मिलने से यही कहना पड़ता है कि इससे शायद ही मीरा बना

हो। कोशों में सिद्धान्त-कौमुदी से यह शब्द लिया गया जान पड़ता है। वहाँ उणादिप्रकरण में उसका उल्लेख हुआ है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि यदि कहीं साहित्य में उसका प्रयोग नहीं मिलता तो वह कभी बोल-चाल में भी प्रयुक्त न होता रहा होगा, अन्यथा वह व्याकरण में ही कैसे आता। किन्तु यह शब्द अब इतना अपरिचित हो गया है कि उसे सहसा सुनते ही संस्कृत के विद्वान् भी संस्कृत का मानने को तैयार नहीं होते*। ऐसे शब्द से निकले हुए शब्द का प्रयोग हिन्दी में भी केवल कबीर और दादू में मिले, इसकी कम सम्भावना है।

---

* इस सम्बन्ध में एक बहुत रोचक तथ्य प्रकाश में आया है। लखनऊ-विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा फ्रेञ्च-भाषा के अध्यापक श्रीयुक्त के० ए० एस० आयर ने बताया है कि फ़रासीसी भाषा में मैर (mer) सागर के अर्थ में अब भी प्रयुक्त होता है। भूमध्य सागर के लिए फ़रासीसी पर्याय है Law Mer Mediterannee (the sea Mediterranian)। इटालियन भाषा में भी इससे मिलते-जुलते शब्द का सागर के अर्थ में प्रयुक्त होना कहा जाता है। इससे भी यही पता चलता है कि व्याकरण में निराधार ही इस शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है। संस्कृत तथा योरपीय भाषाओं के बहुत-से शब्द एक ही मूल से निकले हुए हैं। संस्कृत के 'मीर' और फ़रासीसी 'मैर' का भी एक ही मूल जान पड़ता है। हो सकता है कि संस्कृत के क्षेत्र में वह बोलचाल ही तक सीमित रह गया हो, साहित्य में न आ पा

तो क्या यह शब्द विदेशी है? फ़ारसी में एक शब्द 'मीर' है, जिससे इसकी व्युत्पत्ति सम्भव हो सकती है। फरहंगे श्रनंदराज में मीर श्रमीर या मीरह का संकुचित रूप माना गया है। तेहरान से प्रकाशित एस० हैम के फारसी-अँगरेज़ी कोष में इसकी निरुक्ति श्रमीर से की गई है। माने दोनों कोषों में एक-से हैं। मीर शुद्ध वंश के सैयदों के नामों के पहले श्रादरप्रदर्शन के लिए जोड़ा जाता है श्रौर उसके माने सरदार या मालिक के होते हैं। यही श्रर्थ हिन्दी-शब्दसागर में भी दिया गया है। डा० ताराचन्द के एक लेख में 'शाह मीरां जी शम्सुल उश्शाक़ का ज़िक्र आया है। मैंने उनसे पूछा कि इस नाम में आया हुआ 'मीरां' क्या है। उन्होंने उत्तर में लिखा कि यह मीर का बहुवचन है। यह व्युत्पत्ति कबीर-ग्रंथावली तथा दादू वाली मिलनेवाले प्रयोगों के विरुद्ध भी नहीं जाती। यद्यपि इस्लाम में श्रल्लाह के सम्बन्ध में 'मीर' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, फिर भी लाक्षणिक प्रयोग से परमात्मा को मालिक कह सकते हैं, विशेषकर वे जो

हो। आयर महोदय तो यह सम्भव समझते हैं कि इस शब्द का मूल विदेशी है और सम्भवतः यवना (ग्रीकों) के संसर्ग से यह संस्कृत में गृहीत हुआ है। संस्कृतकोशों का यह 'मीर' चाहे भारतीय हो अथवा विदेशी, उससे 'मीरा' का कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।

(यह Mer शब्द लैटिन से आया है और लैटिन से निकली सभी भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाया जाता है। संपादक)

इस्लाम के अन्तर्गत नहीं है, जैसे कबीर। जान पड़ता है कि हिन्दी में आदर-प्रदर्शन के उद्देश्य से इस अर्थ में इस शब्द का सीधा बहुवचन रूप ही लिया गया है।

परन्तु सोलहवीं सदी के मध्य की किसी हिन्दू नारी के नाम में किसी फ़ारसी-मूलवाले शब्द का प्रयोग है विचित्र बात। आज भी जब कहीं कहीं पुरुषों में रामदत्तसिंह रामबख्शसिंह में बदल गये हैं, हिन्दू स्त्रियों के नामों में विदेशीपन नहीं आया है। अतएव यह कम सम्भव जान पड़ता है कि मीराँबाई मा-बाप का रखा हुआ नाम हो। मीराबाई के पीछे तो मीरा नाम का सर्व-प्रिय होना स्वाभाविक है। परिणामतः आजकल कई स्त्रियों के नाम मीरा मिलते हैं। किन्तु सम्भवतः मीराबाई पहली मीरा थी और सम्भवतः मीराबाई उसका नाम न हो कर उसकी व्यक्तिगत विशेषता की द्योतक उपाधि (या उपनाम) मात्र थी, जो सम्भवतः साधु-सन्तों के द्वारा उसे मिली हो और जिसके आगे उसका असली नाम विस्मृति के गह्वर में चला गया हो। मीरा की प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रसिद्ध है। वह परमात्मा को अपना पति समझती थी और परमात्मा के अतिरिक्त किसी को पुरुष नहीं मानती थी। यह नाम उसकी इसी विशेषता का द्योतक है और सम्भवतः इस बात का भी, कि इस विशेषता का मूल कबीरी विचार-धारा है। जैसा देख चुके हैं, कबीर में ही पहले-पहल हमें यह शब्द मिलता है और सम्भवतः उन्हीं की-सी

विचारधारावाले साधु सन्तों से मीरा को यह नाम या उपाधि मिली हो। कबीर के द्वारा, जिसे मैं जात-मुसलमान मानता हूँ और जिसका मुसलमान कुल में पालापोसा जाना सब मानते हैं, फ़ारसी मूल से निकले हुए इस शब्द का प्रयोग अस्वाभाविक भी नहीं है। यह प्रसिद्ध है कि रैदास मीराबाई के गुरु थे। मीरा के नाम से मिलनेवाली 'बानी' में तीन स्थलों पर इस बात का उल्लेख है। यह भी प्रसिद्ध है कि रैदास रामानन्द के शिष्य और कबीर के गुरुभाई थे। नाभा जी ने स्वामी रामानन्द के शिष्यों को प्रेमलक्षणा भक्ति का जिसको उन्होंने 'दशधा' कहा है, आगर ('दशधा के आगर') बताया है, यही मीरा की भी विशेषता है।

संत

(कल्याण से उद्धृत)

सबमें बड़े हैं संत, दूसरा नाम है।
तिसरे दस औतार, तिन्हें परनाम है ॥ —पलटू

संत अध्यात्म-विद्या का व्यवहार-सिद्ध स्वरूप है। अध्यात्म-वादी तत्त्वचिन्तक जिन महान् सिद्धान्तों का अन्वेषण और निरूपण करते चले आये हैं, उनकी उसे स्वयं अपने में अनुभूति हुई होती है। उनका उसे शास्त्रीय वाचनिक ज्ञान हो न हो, दर्शन अवश्य होता है। वह अध्यात्मका व्याख्याता चाहे न हो,

अध्यात्मचेता होता है। वह द्रष्टा है। संत की दिव्य दृष्टि को बाहरी आवरण नहीं रोक सकते, उनमें न उलझकर वह सीधे आभ्यन्तर वास्तविकता पर जा ठहरती है। बाहरी चीजें उसके लिये सब झूठी हैं —

> आँखी सेती जो देखिए सो तो आलम फानी है।
> कानों सेती जो सुनिए सो तो जैसे कहानी है॥
> इस बोलतेको उलटि देखे सोई आरिफ सोइ ज्ञानी है।
> 'यारी' कहै यह बूझि देखा और सबै नादानी है॥
>
> —यारी

केवल सत् तत्त्व ही नित्य और अव्यय है। वही अनन्त तेजोमय उसकी दृष्टिमें सार वस्तु है जिसके प्रथम दर्शन के अवसरपर चौंधियाया हुआ द्रष्टा उपनिषद् के शब्दों में प्रार्थना करता है —

> पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
> तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि।
>
> (ई० उ०)

[हे भरण करनेवाले ! एकचारी संसार के उत्पत्तिकर्ता सूर्य अपनी किरणों को समेटो, जिससे मैं आपके तेजोमय कल्याण-रूप को देख सकूँ।] परन्तु उस तेजपुञ्जको अपनी 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' के समान प्रचण्ड किरणें समेटनी नहीं पड़तीं। क्योंकि आत्मतेज की प्रखर किरणें परिचय होने के साथ ही संत

के लिये सौम्यरूप धारण कर लेती हैं, उनमें चकाचौंध नहीं रह जाती, वह परब्रह्म को खुली आँखों से सामने देख सकता है—

जोतिसरूपी आतमा, घट-घट रही समाय।
परम तत्त्व मन भावनो, नेक न इत उत जाय॥
रूप रेख बरनौं कहा, कोटि सूर परकास।
अगम अगोचर रूप है, पावै हरिको दास॥

इस प्रकार द्रष्टा संत एकमात्र सत्तत्त्व को अपने में और अपने को एकमात्र सत्तत्व में देखता है। इसीलिये वह संत[1] है।

सोइ निज संत जिन अंत आपा लियो,
जियो जुग-जुग गगन बुद्धि जागी।

—संत केशव

आत्मदर्शन से, अनन्त आध्यात्मिक प्रेम के उदय से, मीरा के शब्दों में उसके 'दिल की घुंडी' खुल जाती है। हटते हुए आश्चर्य के साथ उपनिषद् के शब्दों में उसे स्थिरानुभव होता है—

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥ (ई० उ०)

---

१. 'संत' शब्द की उत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है। वह 'सत्' का बहुवचन हो सकता है जिसका हिन्दी में एकवचन में प्रयोग हुआ है, अथवा 'शांत' का अपभ्रंश रूप हो सकता है, जैसा पाली भाषा में होता है। पहली व्युत्पत्ति से संत के माने होंगे जो सत् है अथवा जिसे सत् की अनुभूति हो गयी है; दूसरी से, जिसकी कामनाएँ शांत हो चुकी हैं। दोनों अर्थ संत पर ठीक उतरते हैं।

उसकी 'सोऽहम्' की अनुभूति कभी टूटती नहीं—

सोहं हंसा लागनि डोरि।

वह स्वयं परब्रह्म हो जाता है। संत और साहब में कोई भेद नहीं, दोनों एक हैं। जैसा पलटू कहते हैं —

साहिब वही फकीर है, जो कोइ पहुँचा होय।

मुँह से 'सोऽहम्' कहना जितना आसान है, उसकी अनुभूति उतनी ही कठिन है, उसे प्राप्त करना बिना मौत मरने के समान है —

साधो हरिपद कठिन कहानी…
अलह को लहना, अगह को गहना,
अजर को जरना, बिना मौत मरना ॥

— संत दरिया (मारवाड़ी)

संत को सत्तत्व आत्मा का दर्शन कठिन साधना के अनन्तर प्राप्त होता है। उसे उलटी चाल चलनी होती है। 'सञ्चर' की प्रक्रिया को 'प्रतिसञ्चर' में बदल कर, सर्जन की तीव्र धारा के विरुद्ध चलकर वह अपने साध्य लक्ष्य पर पहुंचता है। जैसा सिद्ध घोड़ाचोली ने कहा है—वास्तविक योगीन्द्र वह है जो साधनमार्ग में तत्पर हो, सर्जन की चढ़ती हुई लहर को उलटी फेरकर आत्मनिमग्न हो जाता है —

रावल[१] ते जे चालै राह। उलटा लहरि समावै मॉह ॥

---

१. रावल=योगियों का एक भेद।

रज्जबजी के शब्दों में—

उलटा चले सु औलिया, सूधी गति संसार।

संत दुनिया से उलटे चलता है। संसार के क्षणिक सुखों में उसके लिये कोई आकर्षण नहीं। जिसे प्यार कर दुनिया मोह के बन्धन में पड़ती है, उससे वह मुँह फेर लेता है। निवृत्ति के मार्ग से उलटे पाँवों चलकर प्रवृत्ति को निरर्थक करता हुआ वह उस मूल सत्य (सत्यमायतनम्—केन०) तक पहुँच जाता है जहाँ से सारी प्रवृत्ति का फैलाव चलता है (यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी—गीता १५।४)। मुक्ति के लिये से मौत का आसरा नहीं देखना पड़ता। मरने के पीछे मिलनेवाली मुक्ति की वह बात नहीं करता, उस पर विश्वास ही नहीं लाता।

निकट निरंजन लगि रहे। तब हम जीवन मुकत भये॥
मर करि मुकति जहाँ जग जाइ। तहाँ न मेरा मन पतियाइ॥
आगै जनम लहै औतारा। तहाँ न मानै मना हमारा॥
तन छूटै गति जो पद होइ। मिरतक जीव मिलै सब कोइ॥
जीवते जनम सुफल करि जाना। दादू राम मिले मनमाना॥

—संत दादू

वह तो बृहदारण्यक के शब्दों में यहीं इसी जीवन में मुक्ति लाभकर ब्रह्मोपभोग करता है—

'अत्र ब्रह्म समश्नुते'

(बृ० ४।४।७)

ब्रह्म के रूप में आत्मदर्शन से उसके आनन्द का ठिकाना नहीं रहता—

निरखि आपु अघात नहि यह सकल सुख रस सानिये।
पिवहिं अमृत सुरति भरि करि संत बिरला जानिये॥
कोटि विष्णु अनन्त ब्रह्मा सदा शिव जेहि ध्यावहीं।
सोइ मिलो सहज स्वरूप केशव आनन्द मंगल गावहीं॥

—संत केशवदास

जो पद अगम अगोचर और वाङ्मनसातीत है, जो न दिखायी देता है, न पकड़ में आता है और न बतलाया ही जा सकता है वह उसे स्वयं ही प्राप्त हो जाता है—

दिष्ट न, मुष्ट न, अगम है, अति ही करड़ा काम।
दादू पूरण ब्रह्म में कोइ संत करे बिसराम॥

—दरिया (मारवाड़ी)

संत का यह अन्तराराम उसके मन के उपराम का फल है। आत्मदर्शन से उसकी सब कामनाएँ शान्त और शुद्ध हो जाती हैं। वह षड्रिपुओं के शासन से बाहर चला जाता है। संसार के सुख-दुःख से वह परे हो जाता है, मानापमान उसे छू नहीं पाते। हार-जीत उसे क्षुब्ध नहीं कर सकती। जिसपर इन काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर छः शत्रुओं का शासन हो गया वह कितना ही स्वाँग रचे, लंबी हाँके, संत नहीं कहा जा सकता। संत का बाना बनाये हुए किसी पाखण्डी से जो किसी चुभती बातसे आगबबूला हो उठा था, कबीर ने कहा था—

हम तौ जाना मगन ह्वै रहे रामरस पागि!
रंचक पवन के लागते, गये नाग-से जागि!

संत तो उस खिलाड़ी के समान है जो दोनों ओर से स्वयं ही गोटियाँ चलाता है और हार-जीत दोनों को केवल विनोद समझता है।

दोइ जने मिलि चौपर खेलत, सार धरैं पुनि ढारत पासा।
जीत तु है सु खुसी मनवैं अति, हारत है सु भरै जु उसासा॥
एक जनो दुहुं ओरहिं खेलत, हारि न जीत करै जु तनासा॥
तैसे अज्ञानि को द्वैत भयो भ्रम, सुंदर ज्ञानिकै एक प्रकासा॥

—सुन्दरदास

संत असंग है, निर्लेप है। माया में रहकर भी वह माया के बाहर रहता है। उसकी रहनी का सार है—

अंजन माहिं निरंजन रहिये, बहुरि न भवजल पाया।

—कबीर

वह पानी में रहते हुए भी पानी से न छुये जानेवाले कमल के पत्ते के समान निर्लेप रहता है। उसे करने को कुछ नहीं रह जाता। किया हुआ उसे लगता नहीं। वह कर्ता होकर भी अकर्ता है। देखने में वह जगत् के सब व्यवहार करता रहता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि वह भी सामान्य जनों की भाँति अज्ञानी है और कर्मबन्धन में जकड़ा हुआ है। वह किस ऊँचाई तक पहुँचा हुआ है यह जानना हम सामान्य लोगों के बूते का काम

नहीं। क्योंकि उसके भीतर हम नहीं देख सकते, हमारी दीठ केवल बाहर रहती है। संत की देह और उसके दैहिक कृत्य उसकी छाया-मात्र है, स्वय वह तो आध्यात्मिक आनन्द के आकाश में उड़ान मारा करता है—

ज्यूँ हम खाहिं, पियें अरु ओढहि
तैसहिं ये सब लोक बखानै।
ज्यूँ जल मैं ससि के प्रतिब्यबहिं
आपस मॉ जल जंत प्रवानें॥
ज्यूँ खग छॉह धरापर दीसत
'सुन्दर' पषि उड़ै असमानै।
त्यूँ सठ देहनि के कृत देषत
संतनि की गति क्यूँ कोउ जानै॥

—सुन्दरदास

उसके कर्म शारीर कर्ममात्र होते हैं, मन से वह उनमें नहीं लगा रहता। शरीर अब उसकी 'कल्याणतम' स्थिति के लिये आवश्यक नहीं, पर वह उस ब्राह्मीस्थिति मे बाधा भी नहीं डालता। उसकी—

पृथ्वीपर देही रहे, परमेसुर में प्रान।

—चरनदास

जगद्व्यवहार संत को लोकसग्रह की दृष्टि से करना पड़ता है। जबतक देह है मनुष्य पूर्णरूप से निश्चेष्ट नहीं रह सकता

(गीता १८ । २१) । निश्चेष्टता तथा निश्चेष्ट रहने का प्रयत्न स्वतः कर्म हैं। अज्ञानी निश्चेष्ट होनेपर भी निष्कर्म या अकर्ता नहीं कहा जा सकता। उसे निकम्मा या आलसी कह सकते हैं, निष्कर्म नहीं। कर्म का फल त्यागा जा सकता है कर्म नहीं। कर्म-फल त्यागी ही त्यागी है (गीता १८।२१)। इसी से गीता ने पूर्ण कर्मिष्ठ और विद्वान् उसे कहा है जो कर्म में अकर्म को और अकर्म में कर्म को देखता है (४।१८) संत यदि तन से भी व्यवहार को उसी तरह छोड़ दे जिस तरह मन से छोड़ देता है, तो अज्ञानियों के मस्तिष्क मे उलझन पैदा हो जाय। वे निकम्मे और आलसी होने में ही त्याग समझने लगें। संतजन साधारण-जनों में 'बुद्धिभेद' (गीता ३।२६) नहीं उत्पन्न करना चाहता। वह नहीं चाहता कि वे अपने-अपने काम-धन्धे छोड़ दें। उनके समक्ष उदाहरण रखने के लिये संत स्वयं भी सामान्यतया वैसा ही आचरण करता है जैसा जनसामान्य, किन्तु वह उसमे लीन नहीं होता (गीता ३।२५) जैसा ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी टीका मे कहा है—

जो अंतरी दृढ़। परमात्मारूपी गूढ़।
बाह्यतरी रूढ़। लौकीक जैसा॥

संत का यह स्वरूप केशवदास के इस सवैये में अच्छी तरह से स्पष्ट हुआ है—

निसि बासरु वस्तु विचार सदा, मुख साँच हिये करुनाधन है।
अघ निग्रह, संग्रह धर्मकथा, निपरिग्रह साधन को गुन है॥

कह केसौ भीतर जोग जगै, इत बाहर भोगमई तन है।
मन हाथ भये जिनके तिनके वन ही घर है घर ही वन है॥

—केशवदास

मारवाड़ी दरिया ने भी कहा है—

बाहर बाना भेष का माहिं राम का राज।
कह दरिया वे साधवा हैं मेरे सिरताज॥

समाज की शृंखला को संत तोड़ना नहीं चाहता। समाज में प्रचलित अन्यायों और बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाने में वह बेशक नहीं हिचकता। विशेषकर ऐसे अवसर पर युग की आवश्यकताओं को देखते हुए सामाजिक नियम बेतरह अधूरे और निकम्मे पड़ जाते हैं, उस समय वह समाज के नियमों को आवश्यकता के अनुकूल ढालने में सहायता करता है। किन्तु वह समाज को विशृंखल करना बिल्कुल नहीं चाहता। सामयिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं जो सर्वकालीन हैं। उनको परिपूर्ण करनेवाले सामाजिक नियम सदा रहेंगे। ऐसे सनातन नियमों के बिना समाज चल नहीं सकता। युगधर्म का पालन भी संत आवश्यक समझता है। क्योंकि उसकी दृष्टि एकांगी नहीं, सर्वांगीण है। वह अस्तित्व के किसी भी अंग की अवहेलना नहीं करती। वह समाज के सामान्य नियमों का उपहास करनेवाला सरभंगी नहीं। जैसा पलटू कहते हैं—

सरबंगी जो नाम के रहनी सहित बिबेक।
रहनी सहित बिबेक एक करि सबको मानै।
खान पियन में जुदा नहीं एकै में सानै॥
लिये रहै मरजाद तजै न नेम अचारा।
धर्म सनातन सहित, असुभ-सुभ करै बिचारा॥
बोलै सब्द अघोर, भजन अद्वैता अंगी।
कारज निरमल करै, सोई सरबंगी॥
पलटू बाहर कुल धरम, भीतर राखे एक।
सरबंगी जो नाम के रहनी सहित बिबेक॥

—पलटू

सत जिस एकता को दृष्टि में रखता है. वह भीतरी एकता है, बाहरी नहीं। परन्तु बाहरी व्यवहार पर भी इसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति सत को प्राणीमात्र के साथ प्रेम करने के लिये प्रेरित करती है। वह सब में परमात्मा का दर्शन करता है। सबको अपने में देखता है और अपने को सब में। सत् के अतिरिक्त वह किसी का अस्तित्व मान नहीं सकता। जो कुछ है वह सत् है, असत् कुछ भी नहीं। असत् भी सत् की ही झूठी झलक है। यही मिथ्या भेद का कारण है जो सत को भुलावे में नहीं डाल सकती। 'सोऽहम्' की अनुभूति उसके हृदय को दया का सागर बना देती है। वह सबकी भलाई करना चाहता है—

संत सरल चित जगत हित।

(तुलसीदास)

क्योंकि वह सर्वत्र अपनी ही समानता देखता है (आत्मौपम्येन सर्वत्र—गीता ६। ३२) वह सर्वत्र न्याय, दया, दाक्षिण्य, अहिंसा, सत्य और प्रेम का साम्राज्य देखना चाहता है। वह चाहता है कि मनुष्यमात्र में प्राणिमात्र के प्रति एकता की भावना हो। दूसरों से अपने लिये जो व्यवहार कोई चाहता हो, दूसरों के प्रति स्वयं भी वही व्यवहार करे। दूलनदास के शब्दों में संत का उपदेश है—

दया धरम हिरदे में राखहु, घर में रहहु उदासो।
आन के जिव आप करि जानहु, तब मिलि है अविनासी॥

स्वयं संत इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार का व्यवहार नहीं कर सकता। उसका सांसारिक जीवन पारमार्थिक अद्वैत की व्यावहारिक सिद्धि है। अपनी पूर्ण पारमार्थिकता की अनुभूति से वह गर्वोद्धत नहीं हो जाता बल्कि उलटे विनयावनत होता है—

साधू जल का एक अँग, बरतै सहज सुभाव।
ऊँची दिसा न संचरै, निवन जहाँ ढलकाव॥

वह नम्रता और सर्वभूत दया और प्रेम में ही वास्तविक आत्मसम्मान देखता है। आत्मानुभूति के साथ गर्व के लिये जगह ही नहीं है। जब कोई 'दूसरा' है ही नहीं तब किसके सामने गर्व करे, किसको नीचा दिखावे। जो 'दूसरा' है वह भी

'मैं' ही हूँ। अपनी परमानुभूति के अनन्तर संत के जीवित रहने का एकमात्र ध्येय उस अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाना है। 'सोऽहम्' की अनुभूति को वह 'तत्त्वमसि' के सन्देश के रूप में सत्पात्रों के लाभ के लिये प्रचारित करना चाहता है।

जो इस सन्देश को सुनने के पात्र नहीं उनसे वह उसे गुप्त रक्खे रहता है। जिससे दुर्जन 'सोऽहम्' कहने भर से समाज में अनधिकार महत्त्व प्राप्त करने के लोभ में न पड़ें। इसी विचार से यीसूमसीह ने भी पर्वत पर उपदेश देते हुए सूअरों के सम्मुख मोती बखेरना मना किया था। इसीसे संत अपनी पहुँच को सामान्य व्यवहार के भीतर छिपाये रखते हैं।

लोगों का विश्वास है कि अमृत कोई ऐसा पदार्थ है जिसके पान अथवा भोजन से आदमी अमर हो जाता है। जनसाधारण का यह अमृत केवल दिल के बहलाने का अच्छा खयाल है।' किन्तु वास्तविक अमृत तो संतों का ज्ञानानुभव है। जिसके प्राप्त होने से व्यक्ति सच्चे अर्थ में अमर हो जाता है।

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

(कठ० २। ३। ९)

इसीसे बुल्ला ने कहा है—

सब अमृत बातों की बात। अमृत है संतन के साथ॥

संत सबसे बड़ा दानी है। वह ज्ञानामृत का दान करता है। यही, दादू के शब्दों मे, 'दरबार का दत्त है' जिसको परमात्मा संत के हाथों बाँटता है—

'दादू' दत्त दरबार का को साधू बोंदे आइ ।
तहाँ रामरस पाइये जहँ साधू तहँ जाइ ॥

संत का ज्ञानानुभव एक प्रकार से सरनेवाला है। संत आध्यात्मिकता का सूर्य है जिससे ज्ञान की किरणें समस्त जगत् के ऊपर पडती हैं। जिन्होंने अश्रद्धा का आतपत्र नहीं धारण किया है (छाता नहीं ओढ़ा है) वे उनसे संजीवनी शक्ति खींच सकते हैं। उस प्रकाश के सामने अन्धकार ठहर नहीं पाता। सब कलुप नाश हो जाते हैं। कामनाओं का विप दूर होकर वे शुद्ध हो जाती हैं। इसीसे दरिया साहिब का उपदेश है—

बिक्ख छुड़ावैं चाहकर, अमृत देवें हाथ।
जन दरिया नित कीजिये, उन सतन को साथ॥

इसीसे सत्संग जगत् के आत्यन्तिक दुःख से त्राण पाने का एकमात्र उपाय है। जैसा बुल्ला कहते हैं—

बैठो जाइ संत सभा में, जहाँ अमरपुर लोग।
आवागवन कबहुँ नहि (हूँ है) इहै हमारा जोग॥

परन्तु संत की पहचान कठिन है। संत के लक्षण आभ्यन्तर होते हैं वाह्य नहीं। सत के कोई निश्चित वाहरी लक्षण नहीं, कोई बना-बनाया वेश नहीं, कोई बँधा-बँधाया रास्ता नहीं वह बन्धनहीन मुक्त पुरुष है—

मच्छी पच्छी साध का दरिया मारग नाहि।
अपनी इच्छा से चलें हुकुम धनी के माहि॥

संत अपनी आभ्यन्तर अनुभूति के कारण संत है। जिसकी पहुँच वहाँ तक नहीं, वह संत को पहचान कैसे सकता है ? संत की पहचान संत ही को हो सकती है। जो कहे कि मैं संत को पहचानता हूँ, उसको तुलसो साहब कुनस (कोर्निश) करते हैं—

जो कोइ कहै संत को चीन्हा। 'तुलसी' हाथ कान पर दीन्हा।

असली संत का साक्षात् बड़े भाग्य से होता है। वह बड़ी तपस्या के बाद मिलता है। भगवान् की दया का सत-दर्शन पहला लक्षण है—

साधु मिले तब ऊपजे हिरदे हरि का हेत।
'दादू' संगति साधु की कृपा करें तब देत॥

यह कृपा सच्ची श्रद्धा से होती है। श्रद्धा और लगन से पूर्ण खोज कभी व्यर्थ नहीं जाती। संत को लक्षणों से हम पहचान पावें या न पहचान पावें किन्तु यदि आन्तरिक श्रद्धा है तो सच्चे संत के सम्मुख आते ही दिल गवाही देने लगता है कि हम एक अपूर्व शक्ति के समक्ष हैं। हमारा सारा अस्तित्व बदलने लगता है। पार्थिवता भागने लगती है, भीतर दिव्यता का अनुभव होने लगता है। मानो पारस पत्थर के परस से लोहा सोने मे बदल रहा हो। यदि यह अवस्था आ उपस्थित हो तो समझना चाहिये कि हम वस्तुतः संत के सामने हैं। परन्तु जबतक यह बात नहीं होती, तबतक इस निश्चय के लिये हमारे पास कोई आधार नहीं—

पारस परसा जानिये जो पलटै अंग अंग।
अंग अंग पलटै नहीं तो है झूठा संग॥

—मारवाड़ी दरिया

परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम में श्रद्धा और लगन के उत्पन्न हुए बिना सत्संग का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसलिये सुन्दरदास के शब्दों में—

जौ परब्रह्म मिल्यौ कोउ चाहत तौ नित संतसमागम कीजे।
अंतर मेटि निरंतर ह्वै करि ले उनकौ अपनौ मन दीजै॥
वै मुष द्वार उचार करैं कछु सो अनयास सुधीरस पीजै।
'सुंदर' सूर प्रकासत है उर और अज्ञान सबै तम छीजै॥

उद्धारकामी को चाहिये अपने-आपको संत की शरण में छोड़ दे। संत अपनी दया से हमारा अनन्त उपकार कर सकता है। प्राचीन ईसाई मत में संतों (सेंट्स) की भी प्रार्थना की जाती थी कि वे प्रार्थना करनेवाले के उद्धार के लिये परमात्मा से सिफ़ारिश करें। परम संत ईसा की इस शक्ति में समस्त ईसाई धर्म एक मत से विश्वास करता है। बुद्ध, गोरखनाथ, रामानन्द आदि परम संतों ने अनगिनित जीवों का उद्धार किया है। वस्तुतः संत सर्वसमर्थ हैं ; स्वतः परमात्मा हैं—

पलटू घर में राम के और न करता होय।
राम समीपी संत हैं वे जो करैं सो होय॥

संत औ रामको एक कै जानिये, दूसरा भेद ना तनिक आनै।

—पलटू

ऐसे परोपकारी 'जंगम तीर्थों' की क्या स्तुति की जाय, धन्य हैं वे लोग जिनके—

एक चाह रही संत रेनु केरी चाहना।

क्योंकि उन्हीं के हृदयों मे यह भावना जागृत होगी—

जौने गैले संतै गैलें, तौनै जैबों हो। —बुल्ला

यही मुक्ति के द्वार तक ले जानेवाला मार्ग है।

नागार्जुन

(हिन्दुस्तानी से उद्धृत)

नागरी-प्रचारिणी सभा के साहित्य-परिषत् में व्याख्यान[1] देते हुए पाँच वर्ष पूर्व मैंने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बहने वाली योग-धारा के अस्तित्व का दर्शन कराने की चेष्टा की थी, जो हिंदी साहित्य के इतिहासों मे स्वीकृत निर्गुणधारा के बहुत पहले से बहती चली आ रही थी और निर्गुणधारा भी जिसका एक विकसित अथवा परिवर्तित रूप मात्र थी। मुझे हर्ष है कि हिंदी के

---

१ निबंधरूप में यह नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक ४ में छप चुका है।

विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस विषय मे मेरे साथ साहमत्य प्रकट किया है और अब हिंदी साहित्य के इतिहास में योगधारा को निर्विवाद स्थान प्राप्त हो गया है।

इस योगधारा में योग देने वाले कवियों में बहुत प्राचीनों में नागार्जुन का भी नाम आता है। नागार्जुन के नाम से तीन 'सबदियाँ' मुझे प्राप्त हुई हैं जो हिंदी में हैं। त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन जी ने भी उनके 'नागार्जुनगीतिका' और 'स्वसिद्ध्युपदेश' नामक दो हिंदी ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनका पता उन्हें भोटिया भाषा के ग्रंथों से लगा है।

परंतु सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि—यह नागार्जुन हैं कौन ? इतिहास के लिए नागार्जुन एक पहेली ही हो गए हैं। द्रौपदी की चीर की तरह उन्हें किंवदंतियों ने ऐसा ढँक लिया है, कि उनके संबंध के तथ्य को खोलना ऐतिहासिकों के लिए असंभव-सा हो रहा है। यहाँ तक कि वे अब तो सामान्य लोक से ऊपर उठ कर बिल्कुल अलौकिक हो गए हैं। एक कथानक उन्हें तीन सौ वर्ष की आयु देता है, और एक और ५२९ वर्ष या इससे भी अधिक की।

फिर भी इतिहासज्ञों का कहना है कि इस नाम ने कम से कम तीन व्यक्तियों को ढँक रक्खा है, जिनके समय में बहुत अंतर है। एक नागार्जुन तो अवश्य ही विक्रमाब्द की दूसरी शताब्दी में हो गए थे, जिनके आदेश से कुषाण नृप कनिष्क प्रथम ने बौद्धों की

संत औ रामको एक कै जानिये, दूसरा भेद ना तनिक आनै।

—पलटू

ऐसे परोपकारी 'जंगम तीर्थों' की क्या स्तुति की जाय, धन्य हैं वे लोग जिनके—

एक चाह रही संत रेनु केरी चाहना।

क्योंकि उन्हीं के हृदयों मे यह भावना जागृत होगी—

जौने गैले संतै गैलें, तौनै जैबों हो। —बुल्ला

यही मुक्ति के द्वार तक ले जानेवाला मार्ग है।

नागार्जुन

(हिन्दुस्तानी से उद्धृत)

नागरी-प्रचारिणी सभा के साहित्य-परिषत् में व्याख्यान[1] देते हुए पाँच वर्ष पूर्व मैंने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में बहने वाली योग-धारा के अस्तित्व का दर्शन कराने की चेष्टा की थी, जो हिंदी साहित्य के इतिहासों में स्वीकृत निर्गुणधारा के बहुत पहले से बहती चली आ रही थी और निर्गुणधारा भी जिसका एक विकसित अथवा परिवर्तित रूप मात्र थी। मुझे हर्ष है कि हिंदी के

---

१ निबंधरूप में यह नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अक ४ में छप चुका है।

विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से इस विषय में मेरे साथ साहमत्य प्रकट किया है और अब हिंदी साहित्य के इतिहास मे योगधारा को निर्विवाद स्थान प्राप्त हो गया है।

इस योगधारा में योग देने वाले कवियों में बहुत प्राचीनों में नागार्जुन का भी नाम आता है। नागार्जुन के नाम से तीन 'सबदियाँ' मुझे प्राप्त हुई हैं जो हिंदी में हैं। त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन जी ने भी उनके 'नागार्जुनगीतिका' और 'स्वसिद्ध्युपदेश' नामक दो हिंदी ग्रंथों का उल्लेख किया है, जिनका पता उन्हें भोटिया भाषा के ग्रंथों से लगा है।

परंतु सबसे पहले प्रश्न यह उठता है कि—*यह नागार्जुन हैं कौन ?* इतिहास के लिए नागार्जुन एक पहेली ही हो गए हैं। द्रौपदी की चीर की तरह उन्हें किंवदंतियों ने ऐसा ढँक लिया है, कि उनके संबंध के तथ्य को खोलना ऐतिहासिकों के लिए असंभव-सा हो रहा है। यहाँ तक कि ये अब तो सामान्य लोक से ऊपर उठ कर बिल्कुल अलौकिक हो गए हैं। एक कथानक उन्हें तीन सौ वर्ष की आयु देता है, और एक और ५२९ वर्ष या इससे भी अधिक को।

फिर भी इतिहासज्ञों का कहना है कि इस नाम ने कम से कम तीन व्यक्तियों को ढँक रक्खा है, जिनके समय में बहुत अंतर है। एक नागार्जुन तो अवश्य ही विक्रमाब्द की दूसरी शताब्दी में हो गए थे, जिनके आदेश से कुषाण नृप कनिष्क प्रथम ने बौद्धों की

चतुर्थ महासंगीति को आमंत्रित किया था। बुद्ध की शिष्य-परंपरा में वह तेरहवाँ अथवा चौदहवाँ व्यक्ति था। लंकावतार सूत्र के अंतिम श्लोकों में उसके नाम का उल्लेख है। नागार्जुन के नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में कनिष्क, किलिक, वसुमित्र, अश्वघोष तथा धर्मगुप्त आदि राजाओं के नामों का उल्लेख मिलता है।

दूसरे रसेंद्राचार्य नागार्जुन हैं जो रसायन-शास्त्र (कीमिया) के आचार्य थे। आयुर्वेदशास्त्र की रसेंद्र (पारद) प्रक्रिया के आचार्य यही माने जाते हैं—नागार्जुन गर्भ जो आयुर्वेद के आचार्य प्रचलित हैं। युअन्च्वांग ने अपने भारत-यात्रा विवरण में इनका उल्लेख किया है, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने माध्यमिकाचार्य नागार्जुन को भी इनके साथ मिला दिया है। युअन्च्वांग ने लिखा है कि राजा यिन्-चिंग ने इनके लिए पो-लो-मो-लो-कि-लि (भ्रमर गिरि) में चट्टानों को काट कर एक गुफा-विहार बनाया था, जिसमें कई मंदिर, बुद्ध की बड़ी-बड़ी स्वर्ण मूर्तियाँ, बड़े-बड़े कमरे आदि थे और जिसमें आने के लिए दो मील लंबा रास्ता शैलों को काट कर बनवाया गया था। इसके बनाने में जब राजा को अर्थाभाव हो गया तो नागार्जुन ने चट्टानों को सोने में बदल दिया। इससे पता चलता है कि रसायन (भारतीय कीमिया) के आचार्य नागार्जुन युअन्च्वांग के समय (सातवीं शताब्दी) से पहले हो गए थे। वट्र्स ने युअन्च्वांग के यात्रा-विवरण में उल्लिखित राजा यिन्-चिंग को आंध्रनरेश शातवाहन बताया है। यह

ठीक भी मालूम पड़ता है क्योंकि बाणभट्ट के अनुसार नागार्जुन शातवाहन का सुहृद् था जिसे उसने पताल के नागराजा से एकावली मुक्तामाला लाकर दी थी। इस माला में सब प्रकार के विषों के प्रभाव को दूर करने की शक्ति थी।[१] कहते हैं कि शातवाहन के नाम सुहृल्लेख नामक एक चिट्ठी लिखी थी. जो चीनी और भोटिया भाषा में अब भी सुरक्षित है।

तीसरे, सिद्ध नागार्जुन हैं। लामा तारानाथ के वर्णन में इनके साथ माध्यमिकाचार्य और रसेंद्राचार्य दोनों संसृष्ट हो गए हैं। इन्हीं तीनों के सम्मिलित रूप को बोधिसत्त्व नागार्जुन समझना चाहिए।

हिंदी में भी एक और नागार्जुन का नाम आता है। विक्रमाब्द की अठारहवीं शताब्दी में भगवानदास निरंजनी एक महत्त्वपूर्ण कवि हो गए हैं। 'प्रेम-पदार्थ', 'अमृतधारा' (१६८९ सं०), 'भगवद्गीता' का अनुवाद और 'भर्तृहरिशतक' का अनुवाद— ये ग्रंथ इसके नाम से मिलते हैं। इन्होंने अपने गुरु का नाम नागार्जुन लिखा है।

क्या हमारे नागार्जुन इनमें से कोई हैं, अथवा इनसे सर्वथ भिन्न ही हैं ?

पहले नागार्जुन अर्थात् माध्यमिकाचार्य द्वारा प्रचारित विचार-धारा का हिंदी के योगी तथा संत-कवियों के ऊपर काफी प्रभाव

---

१ 'हर्षचरित', सप्तम उच्छ्वास।

देखाई देता है। नागार्जुन प्रज्ञावाद अथवा शून्यावाद के सबसे बड़े आचार्य हैं। *प्रज्ञावाद के अनुसार योग तर्कसम्मत तथा* प्रत्यज्ञान तथा बाह्यरूप-ज्ञान से ऊपर उठने से प्राप्त होता है। क्योंकि सामान्यतया मनस् जिसे वास्तविक समझता है, उसका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं। माध्यमिक शास्त्र (नञ्ज्यो सं० ११७९) मे नागार्जुन ने बतलाया है कि तत्त्व जैसा है वैसा (तथा) उसका वर्णन करना असंभव है। वह शून्य है। शून्य ही में सब दृश्य पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं और शून्य मे ही वे लीन भी हो जाते हैं। इस शून्य स्वरूप अर्थात् तथाता की अनु-*भूति होने के ही कारण बुद्ध तथागत समझे जाते हैं। वहीं से वे* उत्पन्न हुए हैं इसलिए भी वे तथागत हैं। दृश्यपदार्थ भी शून्य ही हैं। यद्यपि बिना शरीर के व्यावहारिक अस्तित्व नहीं रह सकता फिर भी परमार्थतः तथागत का शरीर नहीं है, क्योंकि शरीर भी शून्य है। शून्य को न हम सत् कह सकते हैं न असत्। सत् और असत् दोनों भ्रम हैं। इनका आरोप *तत्वप्राप्त तथागत* पर नहीं हो सकता। तथागत मे आत्मभाव नहीं है। आत्मभाव न किसी में जन्म से पहले रहता है और न मरण के बाद। अतएव सापेक्ष व्यावहारिक गुणों के धीरे-धीरे निराकरण से प्रज्ञा प्राप्त होती है।

यद्यपि शंकर के प्रभाव से आत्मनिषेधक इस शून्यवाद ने योगियों और निर्गुणी संतों में आत्मवाद का बाना ग्रहण कर

लिया है, फिर भी परिवर्तित वेष में भी वह अलग पहचाना जाता है। गोरखनाथ ने कहा है—

वस्ती न शून्यं शून्यं न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।

यद्यपि इसमें गोरखनाथ ने अगमतत्त्व के शून्यत्व का निषेध किया है फिर भी इसमें शून्यवाद के शून्यत्व का निषेध नहीं है। क्योंकि यह शून्यत्व केवल असत् का द्योतक है जिसे अनिर्वचनीय शून्यत्व पर आरोपित नहीं कर सकते। और तत्व को अस्ति और अनस्ति, सत् और असत् के बाहर बतलाना वस्तुतः नागार्जुन की ही शैली का अनुसरण करना है। निर्गुण कवियों पर भी यह प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। कबीर ने कहा है—

सोई पै जानै पीर हमारी जिन्द सरीर यह ब्यौरी।
जन कबीर ठग ठग्यो है बपुरो सुन्न समानी त्यौरी॥

और दादू ने—

सहज सुन्नि सब ठौर है, सब घट सबहो माहि।
तहाँ निरंजन रमि रहा कोई गुण व्यापै नाहि॥

कबीर और दादू के इस सर्वव्यापी शून्य में नागार्जुनीयता विद्यमान है, यह उनके निम्न-लिखित उद्धरणों से सिद्ध होता है। कबीर कहते हैं—

जहाँ नहीं तहाँ कुछ जाणि।
जहाँ नहीं तहँ लेहु पछाणि॥
नाहीं देखि न जइए भागि।
जहाँ नाहि तहँ रहिए लागि॥

दादू कहते हैं—

नाहीं तहाँ तै सब किया फिर नाहीं है जाइ ।
दादू नाहीं होइ रहु साहिब सों ल्यौ लाइ ॥

वस्तुतः नागार्जुन से आती हुई दार्शनिक परंपरा हिंदी में अपने शुद्धरूप में भी दिखाई देती है।, लार्ड हेस्टिंग्स के जमाने में हाथरस का राजा दयाराम इस मत का बड़ा पोषक था, उसके लिए वख़तावर नामक जोगी ने 'शून्यसार' नामक ग्रंथ लिखा। यद्यपि यह ग्रंथ मेरे देखने में नहीं आया है फिर भी विल्सन ने इसके अवतरणों का जितना अनुवाद अपने ग्रंथ 'रिलिजस सेक्ट्स अव् दि हिंदूज़' में दिया है उतने से स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि लेखक नागार्जुन के ही सिद्धांतों को अपने ढंग से दुहरा रहा है। इधर-उधर कहीं थोड़ा-सा हलके आत्मवाद का गिलाफ उस पर हो तो हो। यहाँ पर एक अवतरण दिया जाता है—

जो कुछ मैं देखता हूँ वह शून्य है, आस्तिकता और नास्तिकता दोनों भ्रम हैं, मिथ्या हैं। यह पृथ्वी और ब्रह्मांड, इहलोक और परलोक, सूर्य और चंद्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कूर्म और शेष, गुरु-चेला, व्यक्ति-जाति, मंदिर-देवता, पूजा-अर्चा, भजन-स्मरण सब शून्य हैं। कहना-सुनना, वाद-विवाद सब शून्य हैं। तत्व भी कुछ नहीं है।......

मैं शून्यता में ध्यान लगाता हूँ पाप-पुण्य कुछ नहीं जानता।"

वस्तुतः शंकर में भी यही बात है। उन्होंने केवल बौद्धों के शून्यवाद और विज्ञानवाद को अनात्मख्याति के स्थान पर आत्म-ख्याति का बाना पहना दिया है। इसीलिए शंकर 'पद्मपुराण' में प्रच्छन्न बौद्ध कहे गए हैं।

मैंने एक जगह कहा है कि *शून्य को नाथ योगी ब्रह्मरंध्र के* अर्थ में भी प्रयोग करते हैं। नहीं कहा जा सकता कि माध्यमिका-चार्य के जमाने में हठयोग का विस्तार हो गया था या नहीं, पर इतना निश्चय है कि नाथ योगी उन्हें योगी ही मानते रहे होंगे। 'गोरक्षसिद्धांत-संग्रह' में नागार्जुन 'महानाथ' कहे गए हैं— 'नागार्जुनो महानाथः'। कम से कम योगियों की सबसे बड़ी सिद्धि आश्चर्य-जनक रूप से नागार्जुन के साथ संबद्ध है। शून्य के अतिरिक्त ब्रह्मरंध्र का एक दूसरा नाम भ्रमर-गुफा है। नागार्जुन ने *शून्य में ध्यान लगा कर* प्रज्ञापारमिता *की प्राप्ति की* ओर संकेत किया था। इस महाशून्य में यदि किसी की पूर्ण स्थिति हो सकती है तो स्वभावतः शून्यवाद के सबसे बड़े आचार्य नागार्जुन की। अतएव शून्य नागाजुन का वासस्थान हुआ। बाद को जब यह सूक्ष्म तत्व भी काया ही में प्रतिष्ठित कर दिया गया और ब्रह्मरंध्र मे लोग ध्यानस्थ होने लगे तो भी नागार्जुन का साहचर्य उससे गया नहीं। और धीरे-धीरे नागार्जुन का स्थूल निवास-स्थान सूक्ष्म ब्रह्मरंध्र का प्रतीक बन गया और भंवरगुफा अथवा भ्रमर-गुहा कहा जाने लगा। यह वही भ्रमरगुहा है जिसे युअन्च्वांग

के अनुसार राजा यिन-चिंग (शातवाहन) ने पो-लो-मो-लो-कि-लि मे बनवाया था। पो-लो-मो-लो-कि-लि भ्रमर-गिरि है जो आज-कल की रीवां रियासत में स्थित है। इस बात का पता प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री राखालदास बनर्जी को रीवां नगर से बीस मील दक्खिन की ओर चंद्रेह नामक स्थान के ९७३ ईसवी के एक शिलालेख से लगा था।[1] यह भ्रमरगिरि ब्रह्मगिरि भी कहलाता है जो ब्रह्मरंध्र और भ्रमरगुहा के पर्यायवाचित्व का परिणाम है। यद्यपि मेरी समझ से शातवाहन का सुहृद् दूसरा नागार्जुन था तथापि जनसमुदाय दोनों नागार्जुनों में भेद नहीं मानता रहा है। इसलिए एक की बातें दूसरे पर आसानी से आरोपित होती रही हैं।

इन सब बातों के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत नागार्जुन वही थे। विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी में हिंदी का वह रूप नहीं हो सकता जो इन पद्यों में दिखाई देता है।

विक्रम की तीसरी-चौथी शताब्दी वाले रसेंद्राचार्य भी ये नागार्जुन नहीं हो सकते। यह बात नहीं कि रसेंद्राचार्य का योगियों और संतों के ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं है। योगियों में जड़ी-बूटियों के प्रयोग, धातुओं को बदलना, मारना तथा पारस पत्थर आदि आदि बातों के मूल रसेंद्राचार्य ही जान पड़ते हैं।

१ 'हिस्टरी अव ओरीसा', भाग १

रतु उस समय भी हिंदी इस विकसित रूप में न रही होगी। फेर हमारे नागार्जुन की जो 'सबदियां' मिलता हैं उनमें ऐसी गेई बात नहीं, जिससे उन्हें रसेंद्राचार्य का कह सकें।

भगवानदास निरंजनी के गुरु नागार्जुन वे नहीं हैं, यह ना नेश्चय रूप से कहा जा सकता है। क्योंकि जैसा आगे चल कर ता चलेगा लामा तारानाथ ने अपने बौद्ध-धर्म के इतिहास में नका जिक्र किया है। तारानाथ १५वीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ ा जब कि भगवानदास विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में हुए । यह बात ही दूसरी है कि भगवानदास ने अपने पथ के बड़े आचार्य अथवा प्रवर्तक के नाते गुरु माना हो, वस्तुतः दीक्षा देने ाले गुरु के नाते नहीं।

अब रहे सिद्धाचार्य नागार्जुन। मेरी समझ से यही इन सबदियों के लेखक हैं। स्वयं इन सबदियों में भी नागार्जुन ने अपने सिद्ध होने का सकेत किया है—'सिद्ध सकेत नागार्जुन कहै।' परंतु इससे एक दृढ़ प्रमाण यह भी है कि अलग-अलग सरणियों से विचार करने से दोनों का एक ही समय ठहरता है। त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन जी ने भोट देश के स-स्क्य विहार के पांच प्रधान गुरुओं (११४८-१२३५ वि०) की ग्रंथावली स्क्य-ब्क बुम तथा कोर्डियर की सूची के आधार पर चौरासी सिद्धों का एक उपयोगी तालिका[1] बनाई है। इसके अनुसार

[1] 'साधनमाला'।

ागार्जुन सरह के शिष्य ठहरते हैं और सरह धर्मपाल के सम-
लीन। डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य भी नागार्जुन को सरह का
ष्य मानते हैं।[1] सरह के शिष्य नागार्जुन को हम धर्मपाल
८२६-८६६ वि०) के पुत्र देवपाल (८६६-९०६ वि०) का
मकालीन मान सकते हैं।

अलबेरूनी जब सं० १०८७ वि० में भारत आया था, तब
ने नागार्जुन की ख्याति सुनी थी, जो उससे एक शताब्दी पहले
गया था। यद्यपि जनश्रुति ने अलबेरूनी को रसेंद्राचार्य का
ह समय बताया था तथापि यथार्थतः यह सिद्धाचार्य नागार्जुन
समय की ही अंतिम सीमा हो सकती है। अलबेरूनी के
नुसार नागार्जुन के समय की अंतिम सीमा ९८७ वि० के
गभग ठहरती है। पर जनश्रुति से प्राप्त समय को बिल्कुल
तिहासिक तथ्य मानना ठीक नहीं है। मेरी समझ से नागार्जुन
ा अंतिम समय ९०६ और ९८७ वि० के बीच मानना
चाहिए।

अब इन सबदियों के लेखक के समय की ओर दृष्टिपात
कीजिए। ये सबदियाँ जिन संग्रहों में प्राप्त हुई हैं उनमें २० से
ऊपर योगियों की पद्य-रचनाएँ संग्रहीत हैं। उनमें से चर्पट और
कणेरी ने नागार्जुन का उल्लेख किया है, जिससे उसका उनके
समय में होना पाया जाता है। कणेरी ने लिखा है—

१ गंगा (पुरातत्त्वांक)।

पूछै कणेरी नागा अरजन।
प्यंड छाड़ि प्राण कहाँ समाई॥

चर्पट की उक्ति है—

टीका टामा टमकलो, बोलै मधुरी बाणी।
चरपट कहै सुनो हो नागा अरजन चोरां की सहनाणी॥'

चर्पट की उक्ति का अर्थ है—'खूब तिलक-फटाका चंदो दिए रहते हैं और मीठी वाणी बोलते हैं, हे नागार्जुन ये चोरों के लक्षण हैं।'

कणेरी स्वयं सिद्ध नागार्जुन के शिष्य हैं। परंतु इनके समय के स्वतंत्र विवेचन का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। हाँ, चर्पट के समय का है।

चर्पट का उल्लेख चंबा रियासत की राज-वंशावली में आता है। भोटिया ग्रंथों के आधार पर बनी हुई सांकृत्यायन जी की तालिका में भी चर्पट चंबा देश का निवासी बतलाया गया है। ग्रुब टोब में भी चर्पटी का चंपक देश के किसी राजा से संबंध बतलाया गया है। इससे वंशावली का कथन पुष्ट हो जाता है। चंबा की राजवंशावली के अनुसार चंपाराज्य और चंपापुरी की स्थापना के साथ चर्पट का घनिष्ट संबंध है। वह राजा साहिल्लदेव का समकालीन था। साहिल्लदेव के कोई संतति न थी। इसलिए वह अपनी सहधर्मिणी के साथ हिमालय के दक्षिण पार्श्व में तप करने के लिए चला गया। चौरासी सिद्ध प्रसन्न

होकर प्रकट हुए और उन्होंने उससे वर मांगने को कहा। राजा ने पुत्र माँगे। राजा ने अपने लौट आने तक सिद्धों को वहीं ठहरने को कहा और आप चर्पट के साथ चला। राजा के युगाकार आदि दस पुत्र उत्पन्न हुए। क्षत्रियों को हरा कर राजा ने इरावती के तट पर जहाँ पहले चंपा के वृक्ष थे चंपानगरी की स्थापना की। चर्पट की सम्मति से राजा ने गुप्त चंद्रेश्वर और कूर्मेश्वर महादेव आदि मंदिरों की स्थापना की। और चर्पट का भी स्थान निर्मित किया। विंध्य से पत्थर लाने के लिए उसने अपने पुत्रों को भेजा था। अंत में राजा साहिल्लदेव चर्पट के साथ तप में स्थित हुआ। चौरासी सिद्ध भी उसके साथ थे।

इस वर्णन में एक साथ चौरासी सिद्धों का उल्लेख देखकर चकित न होना चाहिए। क्योंकि वंशावली बहुत बाद की लिखी हुई है और समय के बीतने के साथ चौरासी सिद्धों का उसमें प्रवेश पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस वर्णन से इतना स्पष्ट है कि चर्पट साहिल्लदेव का आध्यात्मिक गुरु था। वोगेल[1] और ओमन[2] का भी मत है कि चंबा के राजप्रासाद के पास के मंदिर समूह में चर्पट का भी एक मंदिर होना इस बात का द्योतक

१ वोगेल, 'एँटीक्विटीज़ अव् दि चंबा स्टेट', पृ० ८६ ८७

२ वही, पृ० ९९; जे० सी० ओमन, 'मिस्टिक्स, एसेटिक्स एंड सेंट्स अव् इंडिया', १९०३, पृ० १०६

है कि राजा साहिल्लदेव का आध्यात्मिक गुरु एक काल्पनिक व्यक्ति मात्र न था।

साहिल्ल के समय का तो कोई ताम्रपत्र अथवा शिलालेख नहीं मिलता परंतु उसके उत्तराधिकारियों में से सोमदेव और आसट के दान-पत्र अवश्य मिलते हैं। परंतु इनसे इनके समय का कुछ पता नहीं चलता। हाँ, राजा आसट का उल्लेख 'राज-तरंगिणी' में भी हुआ है।[१] उसके अनुसार यह आसट उन आठ पर्वतीय राजाओं में से एक था जो ११४४ वि० के हेमंत-काल में काश्मीर की राजधानी श्रीनगर गए थे। उस समय अनंतदेव का पुत्र कलश काश्मीर का राजा था। चंबा की वंशावली के अनुसार साहिल्ल और आसट के बीच में योगाकर, दोग्य, विदग्ध, विचित्रवर्मन्, धैर्यवर्मन्, सालवाहन और सोमवर्मन राजा हुए। बीच की इन आठ पीढ़ियों के लिए यदि हम २५ वर्ष प्रति पीढ़ी के हिसाब से लगावें तो २०० वर्ष होते हैं जिनसे साहिल्ल और तदनुसार चर्पटी का सं० ९४४ वि० में विद्यमान होना पाया जाता है। अतएव उसके समकालीन नागार्जुन का भी यही समय मानना उचित है। ऊपर हम भोटिया ग्रंथों के साक्ष्य तथा अलबेरूनी के साक्ष्य से इस निर्णय पर पहुँचे थे, कि सिद्ध नागार्जुन के अंतिम काल की सीमा सं० ९०६ और ९८७

१ 'राजतरंगिणी', ७, ५८८; स्टीन, भा० १, पृ० ३१५, वागेल, पृ० १०३

वि० के बीच मानी जानी चाहिए। हमारी सबदियों के रचयिता का ९४४ वि० में उपस्थित होना इस धारणा को पुष्ट करता है कि ये दो न होकर एक ही व्यक्ति हैं।

सिद्धों का नाथ-पंथ में लिया जाना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं। नागार्जुन ही एक ऐसे सिद्ध नहीं जो नाथ-पंथ में स्वीकृत किए गए हों। जलंधर, चर्पट, मत्स्येंद्र, चौरंगी, गोरक्ष आदि कई और भी सिद्ध उसमें गृहीत हुए हैं। 'गोरक्षसिद्धांतसंग्रह' के अनुसार पंथप्रवर्तक बारह माने गए हैं—

> नागार्जुनो जड़भरतो हरिश्चंद्रस्तृतीयकः
> सत्यनाथो भीमनाथो चर्पटस्तथा।
> अवद्यश्चैव वैराग्यः कंथाधारी जलंधरः
> मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्चमलयार्जुनः॥

इनमें पहले तीन—नागार्जुन, जड़भरत और हरिश्चंद्र तो पौराणिक जैसे हो गए थे। शेष में से चर्पट, कंथड़ (कंथाधारी) जलंधर और वैराग्य (कणेरी) सिद्धों में गिने जाते हैं। परंतु विशेष विचारणीय यहाँ पर मलयार्जुन है।

योगपंथों में बहुधा यह देखा जाता है कि नवीन सिद्ध प्राचीन सिद्धों के अवतार माने जाते हैं, और उनके नाम भी तदनुसार रक्खे जाते हैं। बालानाथ बालयती थे। इसलिए वे लक्ष्मण भी कहे जाते हैं। वक्रनाथ और हणुमत एक ही व्यक्ति के नाम हैं। इसी प्रकार भर्तृहरि और विचारनाथ तथा वैराग्यनाथ और कणेरी

पाव भी। सभवतः पीछे के दोनों नागार्जुन अपने जीवन काल में अपने से पहले के नागार्जुन के अवतार समझे जाते रहे हों जिससे उनका एक बोधिसत्व नागार्जुन में मिल जाना तथा कई सौ वर्षों की आयु का प्रख्यात होना संभव हुआ हो।

नामों में साम्य तथा गोलमाल का एक और कारण भी है। कभी-कभी ये नाम साधना-मार्ग में तै की हुई अलग-अलग मंजिलों के द्योतक भी होते हैं। जिससे एक ही व्यक्ति अलग-अलग समय में अलग-अलग नामों से विख्यात हो जाता है। और इस प्रकार एक ही व्यक्ति के कई नाम हो जाते हैं। टुचो को नेपाल-काठमांडु के राणा श्री केशर शमशेर जंग के पुस्तकालय में एक हस्तलेख मिला है जिसमें किसी दामोदर का उल्लेख है, जो साधना करते-करते अद्वय वज्र हो गया था। नागार्जुन नाम भी कुछ-कुछ उपाधि परक ही मालूम देता है। 'शिक्षासमुच्चय' में लिखा है 'कल्याणमित्रेपु शूर संज्ञा'। हरिभद्र ने और भी लिखा है—

'त्रैविद्यादित्त्व विशिष्ट धर्माधिगमयोगान्महाप्रधान भावेन महानागः क्लेशसंग्रामविजयित्त्वान्महानाग।'[1]

महाप्रज्ञापारमिता[2] शास्त्र में नागार्जुन ने भी महानाग का

१—बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, भाग २६, पृ० १४८

२ टैशो-संस्करण, भाग २५, पृ० ८१; बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, भाग २६, पृ० १४८

अर्थ महापापशून्य लिखा है। जो संगीतियों के सम्मुख पेश किए जाते थे नाग कहलाते थे। अर्हतों को नाग—सर्प अथवा गज कहते हैं, इसलिए कि सर्प पानी में खूब तैरते हैं और हाथी पर्वतों पर खूब धावा मारते हैं। हो सकता है कि नागे भी ऐसे ही 'नागा' हों। ऐसे वीरों में वीर नागार्जुन हैं।

अभिनव गुप्ताचार्य ने तंत्रालोक में 'मच्छंद' शब्द का प्रयोग किया है। इसकी व्याख्या करते हुए राजानक जयद्रथ ने लिखा है—

मच्छाः पाशाः समाख्याता चपलाश्चित्तवृत्तय—
श्छेदितास्तु यदा तेन मच्छंदस्तेन कीर्तितः॥

तथा

पाशखंडन स्वभावो मच्छंद एव।[१]

यह मच्छ और पाश चंचल चित्तवृत्तियां अथवा ज्ञानेंद्रियों का द्योतक है। नाग शब्द का भी इसी तरह का अर्थ हो सकता है। सर्प मनुष्य जाति का शत्रु समझा जाता है। मनुष्य के हृदय में उसके प्रति स्वाभाविक शत्रुता है। इसलिए उनका नाग कहा जाना स्वाभाविक ही है। वे शक्तिशाली गज भी कहे जा सकते हैं। इन नागों को वश में रखना ही साधना का प्रधान उद्देश्य है। मोहेंजो दड़ो को प्राप्त सामग्री के चित्रों में से एक में एक योगी की-सी मूर्ति बनी हुई है जिसके दोनों ओर से मुग्ध सर्प

---

१ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, भाग २६, पृ० ११

खड़े हैं। शिवजी शरीर पर व्यालों को लिपटाए रहते हैं। यह उनकी इंद्रियजितता का ही लक्षण है। नागार्जुन दक्षिण के रहने वाले थे, जहाँ सर्पों और गजों दोनों का बाहुल्य है। ऊपर 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' से नागों के पथ-प्रवर्तकों के नाम दिए गए हैं, उनमें एक मलयार्जुन का भी नाम आता है जो महानाथ नागार्जुन के अतिरिक्त हैं—'तदवच्च मलयार्जुनः'। यह मलयार्जुन ही हमारे सिद्ध नागार्जुन हैं। यह मलय शब्द उनके दाक्षिणात्य होने का संकेत है। चीनी भाषा में नागार्जुन को लुंगशी (नाग-वृक्ष, चंदन, मलय) भी कहते हैं।[1] चंदन के साथ सर्पों का विशेष संबंध है। कालिदास ने दक्षिण में ऐसे चंदन वृक्षों का होना कहा है, जिनमें साँपों के लिपटे रहने से गहरे-गहरे निशान हो गए थे। दिग्विजय करती हुई रघु की सेना के हाथियों के कंठ-बंधन भी उन गहरे चिन्हों पर बाँध दिए गए थे जिससे वे ऊपर-नीचे नहीं खिसक सकते थे—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि॥[2]

यद्यपि दक्षिण में हाथी भी अधिक होते हैं (विजयनगर के नरेशों की उपाधि ही इसीलिए गजपति होती थी), फिर भी चंदन के वृक्षों के साथ हाथियों का कोई विशेष संबंध नहीं जान

---

१ वटर्स, 'ऑन युअन्च्वांग', भाग २, पृ० २०३

२ 'रघुवंश', सर्ग ४ श्लोक ४८

पड़ता। अतएव नाग से विशेष कर सर्प ही अर्थ ठहरता है। अतएव नागार्जुन नाम ही इंद्रियों को वश मे करने का द्योतक है, साँपों को वश में करना जिसका बाहरी प्रतीक माना गया जान पड़ता है। यह एक अर्थ गर्भ-तथ्य है कि सिद्ध नागार्जुन के शिष्य कणेरी को ही बहुधा सपेरे अपना आदिगुरु मानते हैं। सपेरे बहुधा मुद्राधारी नाथ ही हुआ करते हैं।[१] यहाँ तक कि बरमा के सँपेरे भी साँप को वश मे करने के पहले नाथों को वंदना करते हैं। हो सकता है कि अपने शिष्यों को नागार्जुन इंद्रियों को वश में करने के उपाय के बाहरी प्रतीक-स्वरूप साँपों को वश करने का प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाते रहे हों जिसको अब उनके अनुयायियों ने पेशा बना लिया है। इसी प्रकार गोरखनाथी भी गोरखधंधा अथवा गोरखजंजाल दिखाते फिरते हैं, जो माया की उलझन का प्रतीक है जिसे सुलझा कर मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। नागार्जुन नाम के चीनी अनुवादों में से दो इसी ओर संकेत करते हैं। नागार्जुन को चीनी भाषा में लुंग-मींग अर्थात् नागवीर और लुंग-शंग अर्थात् नागविजयी कहते हैं।[२] नागार्जुन में 'अर्जुन' शब्द अर्जुन के वीरत्व अथवा विजयित्व के कारण ही आया है। नागार्जुन शब्द के भोटिया अनुवाद, क्लुस ग्रब के माने हैं नागों को पूर्ण करने वाला। इंद्रियाँ साधक के लिए

१ स्टेट्समैन।

२ वट्स—'ऑन युअन्च्वाग', भाग २, पृ० २०३

परिपूर्ण तभी हो सकती है जब बाह्य विषयों से हट कर वे अंतर्मुख हो जाय।

सर्पों के संबंध में तो शातवाहन के सुहृत् नागार्जुन को भी कुछ सिद्धि प्राप्त थी। 'हर्षचरित' सप्तमोच्छ्‌वास में बाणभट्ट ने लिखा है कि रसातल में जाकर वह नाग राजा से एक मणिमाला लाया था जिसके प्रभाव से सब प्रकार के विष नष्ट हो जाते थे।

गोरक्षादि नाथाचार्यों के साथ जनसमाज के हृदय में हठयोग का अटूट संबंध जुड़ गया है। यद्यपि नागार्जुन को साधारणतया जनसमाज हठयोग से संबद्ध नहीं करता फिर भी उसका नाम (मलयार्जुन से अभिप्राय है) 'गोरक्ष सिद्धांत-संग्रह' ने योगपथ प्रवर्तकों में यों ही नहीं लिया है। नागार्जुन का बहुत लंबी आयु का उल्लेख हो ही चुका है। किसी-किसी ने तो उन्हें छ सौ वर्षों के लगभग आयु दे डाली है। कहा जाता है कि नाक से पानी खींचना आदि क्रियाओं से उन्होंने इतनी लंबी आयु प्राप्त की थी।[1] इससे पता चलता है कि हठयोग के नेती, धोती आदि षट्कर्म उन्हें ज्ञात थे।

सिद्ध नागार्जुन दक्षिण के रहनेवाले थे। टुची को काठमाडु में प्राप्त ग्रन्थ-रत्नों में उनका स्थान फरहाटक बतलाया गया

---

१ नन्-दे की क्रिनी, अध्याय ८, तककुसु, पृ० ३४, वट्टर्स, 'आन युआन्च्वांग', भाग २, पृ० २०३

है।[1] भोटिया ग्रन्थ इन्हें श्रीपर्वत के निकट धान्यकटक का निवासी बतलाते हैं[2] जिसे पुरातत्ववेत्ता नई खुदाई के परिणाम-स्वरूप अब नरद्दल बहु नागार्जुनी कोंड जिला गूंटूर के साथ एक बतलाते हैं। 'मञ्जुश्रीमूल कल्प' में इस स्थान का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। यहाँ सर्वार्थ सिद्धि करनेवाले मंत्रों की तत्काल सिद्धि होती है।

श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
सिध्यंते तत्र मंत्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थ कर्मसु।[3]

तारानाथ ने सिद्ध नागार्जुन का नालंदा में भी रहना लिखा है।

चीनी भाषा में नागार्जुन की दो भिन्न-भिन्न परंपराएँ मिलती हैं। एक के अनुसार नागार्जुन कणेरी के गुरु कहे जाते हैं और कणेरी राहुल के (नागार्जुन-कणेरी-राहुल) तथा दूसरी के अनुसार नागार्जुन राहुल के गुरु थे और राहुल कणेरी के (नागार्जुन-राहुल-कणेरी) परंतु भोटिया लामा तारानाथ के अनुसार नागार्जुन कणेरी के गुरु और राहुलभद्र के शिष्य थे (राहुलभद्र-नागार्जुन-कणेरी)। परन्तु भोटिया भाषा के ग्रंथों में नागार्जुन सरह पा के शिष्य भी बताए गये हैं।

---

१ जर्नल अव् दि बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २६

२ ग्लोडन्-र्दल-ग्सुङ् बुम (ल्हासा) च, पृ० ६ क; गंगा (पुरातत्त्वांक), पृ० २१३

३ गंगा (पुरातत्त्वांक), पृ० २१७

किंतु अब प्रश्न यह है कि नागार्जुन के नाम से मिलनेवाली ये सबदियाँ इतनी पुरानी हैं या नहीं जितने सिद्ध नागार्जुन। दसवीं शताब्दी के आरम्भ मे हिन्दी का इतना विकसित होना विद्वानों को एकाएक स्वीकृति-योग्य न जान पड़ेगा। परन्तु तथ्य यह है कि फूँक-फूँक कर कदम रखनेवाले विद्वानों ने अति साव-धानी के कारण देश-भाषाओं को बहुत अर्वाचीन मान लिया है। अन्यथा इन सबदियों को नागार्जुन-कृत मानने में हिचक का कोई कारण नहीं। तेरहवीं शताब्दी में रचित विद्यापति की पदावली मे जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसका आजकल की मैथिली से विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। इस ओर की सात-आठ शताब्दियों में जब इसमे कोई विशेष अन्तर नहीं आया तो कहा जा सकता है कि उस ओर की तीन चार सदियों में भी कोई इतना भारी परिवर्तन न हुआ होगा। मैथिली ही नहीं समस्त देश-भाषाएँ दसवीं शताब्दी से भी पुरानी हैं। विक्रमाब्द ८३५ में किसी दाक्षिण्य चिन्होद्योतनाचार्य ने अपनी 'कुसुम-माला-कथा' में इन भाषाओं के दर्शन कराए हैं। अपभ्रंश की भूमिका मे ये अंश उद्धृत किये गये हैं। मीना-बाज़ार में भिन्न-भिन्न देश से आये हुए वणिक अपनी-अपनी भाषाओं में ग्राहकों को निमंत्रित कर रहे हैं। मध्यदेश से आए हुए बनिये से 'तेरे-मेरे आओ' कहलाया गया है।—'तेरे-मेरे आउत्ति जम्पिरे मज्झदेशेय।' संस्कृत में इसका रूपान्तर किया गया है—'तेथे मेरे आओ इति'

है।[1] भोटिया ग्रन्थ इन्हें श्रीपर्वत के निकट धान्यकटक का निवासी बतलाते हैं[2] जिसे पुरातत्ववेत्ता नई खुदाई के परिणाम-स्वरूप अब नरहल्ल बड्डु नागार्जुनी कोंड जिला गूंटूर के साथ एक बतलाते हैं। 'मञ्जुश्रीमूल कल्प' में इस स्थान का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। यहाँ सर्वार्थ सिद्धि करनेवाले मंत्रों की तत्काल सिद्धि होती है।

श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
सिध्यंते उत्र मंत्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थ कर्मसु।[3]

तारानाथ ने सिद्ध नागार्जुन का नालंदा में भी रहना लिखा है।

चीनी भाषा में नागार्जुन की दो भिन्न-भिन्न परंपराएँ मिलती हैं। एक के अनुसार नागार्जुन कणेरी के गुरु कहे जाते हैं और कणेरी राहुल के (नागार्जुन-कणेरी-राहुल) तथा दूसरी के अनुसार नागार्जुन राहुल के गुरु थे और राहुल कणेरी के (नागार्जुन-राहुल-कणेरी) परंतु भोटिया लामा तारानाथ के अनुसार नागार्जुन कणेरी के गुरु और राहुलभद्र के शिष्य थे (राहुलभद्र-नागार्जुन-कणेरी)। परंतु भोटिया भाषा के ग्रंथों में नागार्जुन सरह पा के शिष्य भी बताए गये हैं।

---

१ जर्नल अव् दि बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २६

२ ल्होङ-दॅल-ग्सु- पुम (ल्हासा) ब, पृ० ९ क; गंगा (पुरातत्वांक), पृ० २१२

३ गंगा (पुरातत्वांक), पृ० २१७

किंतु अब प्रश्न यह है कि नागार्जुन के नाम से मिलनेवाली ये सबदियाँ इतनी पुरानी हैं या नहीं जितने सिद्ध नागार्जुन। दसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी का इतना विकसित होना विद्वानों को एकाएक स्वीकृति-योग्य न जान पड़ेगा। परन्तु तथ्य यह है कि फूँक-फूँक कर कदम रखनेवाले विद्वानों ने अति साव-धानी के कारण देश-भाषाओं को बहुत अर्वाचीन मान लिया है। अन्यथा इन सबदियों को नागार्जुन-कृत मानने में हिचक का कोई कारण नहीं। तेरहवीं शताब्दी में रचित विद्यापति की पदावली में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, उसका आजकल की मैथिली से विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। इस ओर की सात-आठ शताब्दियों में जब उसमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया तो कहा जा सकता है कि उस ओर की तीन चार सदियों में भी कोई इतना भारी परिवर्तन न हुआ होगा। मैथिली ही नहीं समस्त देश-भाषाएँ दसवीं शताब्दी से भी पुरानी हैं। विक्रमाब्द ८३५ में किसी दाक्षिण्य चिन्होद्योतनाचार्य ने अपनी 'कुसुम-माला-कथा' में इन भाषाओं के दर्शन कराए हैं। अपभ्रंश की भूमिका में ये अंश उद्धृत किये गये हैं। मीना-बाजार में भिन्न-भिन्न देश से आये हुए वणिक अपनी-अपनी भाषाओं में ग्राहकों को निमंत्रित कर रहे हैं। मध्यदेश से आए हुए बनिये से 'तेरे-मेरे आओ' कहलाया गया है।—'तेरे मेरे आउत्ति जम्पिरे मज्झदेशेय।' संस्कृत में इसका रूपान्तर किया गया है—'तेथे मेरे आओ इति'

जल्पतो मध्यदेश्यांश्च।'[१] यद्यपि जान पड़ता है कि दाक्षिण्य चिन्हो-द्योतनाचार्य स्वयं मध्यदेशी नहीं थे और मध्यदेश की भाषा नहीं जानते थे। सुना-सुनाया जैसा उनकी समझ में आया वैसा लिखा है। फिर भी इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक मध्यदेश में प्रचलित भाषा आजकल की हिन्दी का काफी विकसित रूप है। 'तेरे मेरे' हर किसी के अर्थ में अब भी पछांही मुहावरा है। मध्यदेशी वणिक तेरे मेरे हर किसी से 'आओ आओ' कह रहा है। जो सबदियाँ मैं आपके सामने रख रहा हूँ वे इससे डेढ़ सौ से अधिक वर्ष बाद की हैं। अतएव उनको दसवीं शताब्दी में रचित मानने में कोई अड़चन नहीं पड़ती। यह अभिप्राय नहीं कि परंपरा में चले आते हुए इनमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ। स्मृति में चले आते रहने से, लिपिकारों के प्रमाद से, जिनपर अपने काल की भाषा का प्रभाव जोर मारता रहता है, कभी-कभी मूल में परिवर्तन हो जाता है। परन्तु यह परिवर्तन बहुत अल्प होता है। उस समय के अपभ्रंश में लिखे काव्यों की प्रचुरता भी इसके विरोध में प्रस्तुत नहीं की जा सकती। अपभ्रंश उस समय तक साहित्यिक भाषा हो गई थी। जन-साधारण के अमर संस्पर्श से दूर हो चली थी। हिन्दी के क्षेत्र में बोल-चाल की भाषा वही थी जिस की दाक्षिण्य चिन्हो-द्योतनाचार्य ने एक जरा-सी झलक दिखाई है। उसी में

---

१ 'अपभ्रंशकाव्यत्रयी' (गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज), पृ० ९२

सिद्ध नाथों ने प्रचार की दृष्टि से अपने सिद्धान्तों को संचित किया।

मुझे चार संग्रहों मे ये सबदियाँ मिली हैं, जिन में से एक जयपुर का है, दो जोधपुर के हैं, और एक बीकानेर का। इनमे से किसी मे भी समय नहीं दिया हुआ है। परंतु इतना निश्चय है कि अकबर के समय में योगेश्वरी वाणी निश्चय रूप से लिपिबद्ध हो गई थी। अकबर के समकालीन दादू के शिष्य रज्जब ने संतवाणी का 'सरवंगी' नामक एक सग्रह ग्रंथ बनाया था। उसमें इन वाणियों के भी उद्धरण दिए गये हैं। नहीं कहा जा सकता कि अकबर के समय से पहले ये केवल स्मृति में ही सचित थीं अथवा लिपि रूप मे बद्ध हो गई थीं।

नागार्जुन की सबदियाँ यहाँ दी जाती हैं—

दारु थैं दाप उतपनी, दाप कथीं नहि जाई।
दाप दारु परचा भया, तब दाप मैं दारु समाई ॥ १ ॥

पुरब उतपत पछिम निरतरि।
उतपति परलै काया अभि अंतरि॥
प्यंड छाड़ि प्राण भरपूर रहै।
ऐसा सिध संकेत नाग अरजन कहै ॥ २ ॥

आपा मेटीला सतगुर पोजीला, ना करिबा जोग जुगत का हेला।
गुरु मुषि झोरि जब पैंचोला, तब सहज जोति का मेला ॥३॥

दारु-लकड़ी, वृक्ष अर्थात् शरीर ही से सु-स्वादु अमृतफल द्राक्षा अर्थात् साक्षात् ब्रह्मानुभूति उत्पन्न होती है। किन्तु जब दारु (शरीर) में द्राक्षा (ब्रह्म) का परिचय प्राप्त हो जाता है तब द्राक्षा (ब्रह्म) में ही दारु (शरीर) समा जाता है।

उत्पत्ति का द्वार पूर्व दिशा (प्राण) है, निरंतर (नित्यता) प्राप्त करने का मार्ग पश्चिम (सुषुम्न) में। इस प्रकार उत्पत्ति और प्रलय (आवागमन का नाश) दोनों इसी शरीर में हैं। शरीर को छोड़कर यदि प्राण सुषुम्न में समाया रहे तो वह पूर्ण हो सकता है। नागार्जुन यह सिद्ध-संकेत (सांकेतिक भाषा में सिद्धि का मार्ग) बताता है।

मैंने आपा (अहंकार) को मिटा कर सद्गुरु की खोज की। गुरु के सामने जब मैंने भिक्षा के लिए झोली खोली तो सहज-ज्योति का प्रकाश प्राप्त हो गया। योग-युक्ति की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।

उत्तराखंड में संतमत और संत-साहित्य

(वीणा से उद्धृत)

बदरिकाश्रम और श्वेतद्वीप—गढ़वाल में नाथ और सिद्ध—गढ़वाल और कबीरपंथ—मोलाराम का मनमथपंथ—स्वामी शशिधर के ग्रंथ—

सन्त विचार-परम्परा का गढ़वाल से विशेष संबंध है। संत-मत मूलतः निवृत्ति-मार्ग है। उसके सर्व प्रथम आचार्य सनत्कुमार थे। छांदोग्य के अनुसार इस संत मत अथवा अध्यात्म-विद्या को सनत्कुमार से नारद ने सीखा। इन्हीं नारद की प्रचार की हुई भक्ति में कबीर आदि संतों ने भी डुबकी लगायी।[1] सनत्कुमार ने नारद की वृत्ति को धीरे-धीरे अन्तर्मुख किया। वेद, अन्न, स्मृति, आशा, प्राण, सत्य, मति, श्रद्धा, भूमा आदि के मार्ग से ले जाते हुए वे नारद को वास्तविक आत्मानुभूति की अवस्था

—'सन्त, शब्द का प्रयोग यहाँ विस्तृत अर्थ में किया गया है, विशेष अर्थ में नहीं। विशेष अर्थ में केवल कबीर के ढंग के 'निर्गुणी संत' उसके अन्तर्गत आते हैं। किंतु यहाँ सिद्धनाथ आदि सभी अध्यात्म से संबंध रखनेवाले उसके अन्तर्गत ले लिये गये हैं।

१ भक्ति नारदी मगन सरीरा। इहि बिधि भवतरि कहै कबीरा।

—कबीर ग्रंथावली पृ० १९८-३२४।

तक पहुँचा देते हैं। महाभारत के नारदोपख्यान के अनुसार नारद इस अध्यात्म मार्ग को सीखने के लिये ऐकांतिकों के पास श्वेतद्वीप गये थे। श्वेतद्वीप सुमेरू से उत्तर दिशा में क्षीर-सागर के उत्तर तट पर एक द्वीप था। थियासफी के योगविदों के अनुसार यह स्थान चीन के गोबी नामक विस्तीर्ण मरु में—जहाँ पहले क्षीर सागर रहा होगा, अब भी विद्यमान है और इस सृष्टिकाल के सबसे बड़े आचार्य सनत्कुमार अब भी वहाँ रहते हैं। पंडित नरदेव शास्त्री तो हिमगिरि को ही श्वेतद्वीप मानते हैं और गढ़वाल को सनत्कुमार का स्थान। महाभारत के अनुसार जिन लोगों से अध्यात्म-विद्या सीखने के लिए नारद श्वेतद्वीप गये थे वे 'नारायण-पर'[1] थे और इसमें संदेह नहीं कि सुमेरु के निकट नारायणीय धर्म से संबंध रखनेवाला सबसे प्रसिद्ध स्थान बदरिकाश्रम है जिसका महाभारत-काल में भी आजकल ही के समान अत्यन्त आदर था।

बदरीनाथ बदरीनारायण हैं। बदरिकाश्रम नारायणाश्रम है और नारायण के अवतार व्यासजी का भी मूल आश्रम वही है। वहीं उन्होंने अध्यात्मविद्या के आधार ग्रंथ ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया था।

---

१ क्षीरोदधेरुत्तरत. श्वेतद्वीपो महाप्रभः
तत्र नारायण परा मानवाश्चंद्रवर्चसः
एकांतिनस्ते पुरुषाः श्वेतद्वीपनिवासिनः। २, १२७७६, १२७८५

वस्तुतः उत्तराखंड का यह प्रदेश सच्ची तपोभूमि है। प्राचीन काल में तपस्या के द्वारा यहीं बड़े-बड़े तपस्वियों को ज्ञान प्राप्त हुआ। अष्टावक्र ऋषि यहीं विदेहावस्था को प्राप्त हुए। व्यासाश्रम (व्यासगुफा), वसिष्ठाश्रम (हिंदाव) परशुरामाश्रम, बालखिल्याश्रम इस बात का प्रचुर साक्ष्य देते हैं कि यह प्राचीन ऋषियों की तपोभूमि है।

मध्य-युग के सबसे बड़े महात्मा गोरखनाथ ने भी यहीं अपनी सिद्धि प्राप्त की। "रखवाली"—(शरीर-रक्षा के) मंत्रों से पता चलता है कि उन्होंने अपनी घोर तपस्या 'धौल्या उड्यारो' (धवल गुहा) नामक गुफा मे की थी[1]। यह स्थान दक्षिण गढ़वाल में अत्यन्त निर्जन और बीहड़ स्थान में है। यहीं वीर राजा कालो हरपाल को उसकी माता ने बाल्यावस्था में बड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए पाला था। इस स्थान का इस प्रकार गढ़वाल के इतिहास में ही नहीं संतों के इतिहास में भी बड़ा महत्त्व है। स्वयं गोरखनाथ ने तप के क्षेत्र में उत्तराखंड का बड़ा महत्व माना है।

---

१ उत्तर दिशा मा धौली भागीरथी को स्नान छ हे बैणी, हे माता, बदरी केदार की यात्रा छ''''''हे माता धउला उड्यारी गुरु गोरखनाथ को वासो छ हे बैणी।

—रखवाली

दक्षिणी जोगी रंगा चंगा, पुरबी जोगी बादी।
पछिमी जोगी बाला भोला, सिध जोगी उतराधी॥
—सबदी

गढ़वाल के मंत्र-साहित्य में गुरु गोरखनाथ का बड़ा प्राधान्य रहा है। जान पड़ता है कि किसी समय में नाथों का भी यहाँ बड़ा प्राधान्य था। अभी भी गढ़वाल में गोरखपंथी नाथ बहुत हैं। ओले, अति वर्षण आदि ईतियों के निवारण के लिए जिन डलियों को 'डडवार' (वार्षिक वृत्ति) प्रत्येक गढ़वाली घर से मिलता है, वे नाथ ही हैं। दक्षिण गढ़वाल में बहुत नाथ रहते हैं। श्रीनगर में भी नाथों का एक अलग मुहल्ला है। गढ़वाल में गोरखपंथियों का सबसे बड़ा स्थान देवलगढ़ में सत्यनाथ का मंदिर है। मूलतः देवलगढ़ देवी का पवित्र स्थान है। त्रिगर्त (काँगड़ा) के देवल नाम के एक प्राचीन राजा ने इस स्थान पर गौरा देवी का मंदिर स्थापित किया था ऐसा परंपरागत प्रवाद है। देवल राजा ही के नाम से इस स्थान का नाम देवलगढ़ पड़ा है। देवी का यह मंदिर अब तक देवलगढ़ में विद्यमान है और गौरजा[१] देवी के मंदिर के नाम से प्रख्यात है। गढ़वाल के पवार राज्य-वंश का स्थापित किया हुआ राज-राजेश्वरी का मंदिर भी यहाँ है, परंतु संतमत की दृष्टि से सत्यनाथ का मंदिर बड़ा महत्वपूर्ण है। इसके पीछे एक ऐतिहासिक परंपरा है जो

१ गौरजा 'गौरा' और 'गिरिजा' का प्रमादजन्य मिश्रण है।

एक बड़े ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करती है। कहा जाता है कि राजा अजयपाल को भैरवनाथ ने सत्यनाथ योगी के रूप में यहीं दर्शन दिये और उन्हें कंधे पर चढ़ा कर अपना आकार बढ़ाते हुए कहा कि जहाँ तक तुम्हारी दृष्टि जाती है, वहाँ तक तुम्हारा राज्य फैल जायगा। सत्यनाथ ने अपना आकार इतना बढ़ाया कि महाराजा अजयपाल डर गया और उसने सत्यनाथ से प्रार्थना की कि अब अपना आकार न बढ़ाइए। राजा की दृष्टि हिमालय से लेकर शिवालिक (सपाद लक्ष) पर्वत-श्रेणी तक पहुँची और वहाँ तक उसका राज्य फैल गया।

किसी समय उत्तर-भारत मे नाथों का खूब बोलबाला रहा है। वे केवल निरीह साधु ही नहीं रहे हैं नवीन राज्यो की स्थापना करनेवाले और राज-शक्ति का परिचालन करनेवाले भी रहे हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि गोरखा राजा का नाम गोरखनाथ के नाम से पड़ा है। गोरख राज्य अपने आपको केवल दीवान मानते हैं, गद्दी का वास्तविक स्वामी तो गोरखनाथ माना जाता है। जान पड़ता है कि शीशोदियों की जो शाखा १४ वीं शताब्दी के लगभग गोरख और पीछे नेपाल राज्य मे अधिष्ठित हुई, उसको वहाँ लाने के कारण गोरखनाथी ही थे। जोधपुर मे १७ वीं १८ वीं शताब्दी मे नाथ लोगों के ही हाथ मे प्रायः सारे राज्य की बागडोर रही है। गढ़वाल में पँवार-वंश को गहरी नींव देने मे भी जान पड़ता है कि नाथों का कुछ साहाय्य

रहा है, यह ऊपर के परंपरागत जनवाद से स्पष्ट है और कई प्रकार से इसकी पुष्टि होती है। गढ़वाल के गाँव गाँव मे सिद्धों के स्थानों का होना इस बात का सूचक है कि गोरक्ष आदि सिद्धों का यहाँ बड़ा मान था। सिद्धो ने गढ़वाल में ग्राम-देवताओं का स्थान ग्रहण कर लिया है और भैरव तथा देवी के साथ-साथ उनकी भी पूजा होती है। बल्कि भैरव और देवी की तो कभी-कभी याद आती है, सिद्धि का स्मरण पद-पद पर किया जाता है। गढ़वाल के मंत्र-साहित्य में गोरखनाथ, सत्यनाथ, मछिंद्रनाथ, गरीबनाथ, कबीरनाथ आदि सिद्धों की आणें पड़ती हैं।

जान पड़ता है कि देवलगढ़ में सत्यनाथ के मन्दिर की स्थापना संवत् १६८३ में आषाढ़ १८ गते को हुई। उससे पहले वह केवल गुफा मात्र रही होगी। मंदिर-रूप में बन जाने पर पहले पीर हंसनाथजी थे जिनका नाम मंदिर में सवत् के साथ लिखा हुआ है। किसी प्रभावशाली व्यक्ति प्रभातनाथ ने सम्भवतः उसी समय एक बड़ा भारी भंडारा भी किया था। इसका भी उल्लेख शिला-लेख में है।

यह भी सम्भव है कि मंदिर की स्थापना हंसनाथजी ने बहुत प्राचीन काल में की हो और प्रभातनाथजी ने संवत् १६८३ में मंदिर की केवल मरम्मत और भंडारा किया हो[१]। स्वर्गीय वजीर

---

१ इस सबंध मे अपने लेख देवलगढ पर अन्यत्र विशेष रूप से लिख रहा हूँ।

पं० हरीकृष्णजी रतूड़ी का मत है कि राजा अजयपाल ने राज-राजेश्वरी और सत्यनाथ दोनों मंदिरों की स्थापना संवत् १५१२ के लगभग की जब राजधानी चाँदपुर से हटा कर देवलगढ़ में स्थापित हुई।

यह अजयपाल राजा वही हैं जिन्होने गढ़वाल में बहुत कुछ शांति स्थापित की। इनके समय का चला हुआ देवलिया पाथा (पात्र भर कर अन्न नापने का एक परिमाण यूल्या पाथो 'देवलीय प्रस्थ') अब तक गढ़वाल में प्रचलित है। इसके प्रचार संबंधी शिलालेख भी अब तक देवलगढ़ में विद्यमान है।

जान पड़ता है कि नाथों का जो मान अजयपाल ने किया उसके कारण स्वयं वे भी महात्माओं की श्रेणी में आ गये हैं। नाथों या सिद्धों में केवल अजयपाल भरथरी और गोपीचन्द ही ऐसे हैं जिनके नाम के आगे नाथ या पाव ('पाद'-'पा' भी यही है) नहीं आये हैं। इससे पता चलता है की गोपीचन्द और भरथरी के समान सिद्ध अजयपाल भी राजा था।

कबीर का संत-मत से घनिष्ठ संबंध है। वह भी गढ़वाल में सिद्ध माना जाता है। कहीं-कहीं पर उसको कबीरनाथ भी कहा है। गढ़वाल मे कबीर के मत का भी प्रचार हुआ था। गढ़वाल के डोम जो नरंकार (निराकार) की पूजा चढ़ाया करते हैं, वस्तुतः कबीर के ही अनुयायी हैं। नरंकार की पूजा में कबीर की 'जागर'[१]

---

१ किसी माध्यम में देवता या मृत व्यक्ति की भावना का जागरित करनेवाले कथानक।

लगती है। यद्यपि कबीर अहिंसावादी थे फिर भी डोम नरंकार की पूजा में बड़ी निर्दयता से सुअरों का बलिदान करते हैं। किन्तु इस बलिदान को भी उन्होंने विलक्षण रूप से कबीर के साथ जोड़ दिया है।

जागर के अनुसार कबीर ने नरंकार को एक टोकरी अन्न और दो नारियल अग्याल (मनौती की अग्रिम भेंट) के रूप में चढ़ाये थे। कबीर जब कहीं बाहर गये हुए थे तब नरंकार स्वयं एक लंगड़े मँगता के वेश में कबीर के घर आया और उसकी स्त्री से भीख माँगने लगा। कबीर की स्त्री ने कहा कि घर में नरंकार की अग्याल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मँगता ने उसी में से अपने छोटे खप्पर को भर कर भीख मिल जाने का आग्रह किया। कबीर की स्त्री यह आग्रह न टाल सकी। किंतु मँगता का खप्पर तब जाकर भरा जब सारी अग्याल उसमें डाल दी गयी। कबीर की स्त्री अपने किये पर पछताती हुई खाली पात्र रखने के लिए भीतर गयी तो उसने सारा कमरा अन्न से भरा हुआ पाया। अब उसे सूझा कि हो न हो यह भिखमंगा स्वयं नरंकार ही था। परन्तु इससे पहले कि यह बाहर निकल कर उसके चरणों पर पड़े और अनुनय-विनय करे वह लंगड़ाता हुआ भाग खड़ा हुआ। भागने में उसके खप्पर में से दोनों नारियल एक मैले स्थान पर गिर गये और सुअर के रूप में परिवर्तित हो गये। तब से नरंकार के लिए सुअरों की बलि दी जाती है। एक प्रकार से सुअर सुअर

नहीं, नारियल हैं और उनको चढ़ाने से अहिंसा का विरोध नहीं होता।

मैं तो समझता हूँ कि मुसलमान कुल में पैदा हुए गुरु के चेलों को जब लोग मुसलमान ही गिनने लगे तब उनमें से कुछ को अपना मुसलमान न होना सिद्ध करने के लिए शूकर-वध का यह उपाय काम में लाना पड़ा।

गुरु महिमा नामक एक कबीर-पंथी ग्रंथ में तो कबीर का गढ़वाल में आना भी कहा गया है। इस ग्रंथ के अनुसार उस समय श्रीनगर (गढ़वाल) में राय मोहन नाम का राजा राज्य करता था।

राजा मोहन अपनी रानी के साथ बदरीनाथ की यात्रा को जा रहा था। कबीर भी गुप्त रूप से उनके साथ हो लिया। बदरीनाथ में प्रतिमा पद' को कबीर ने सोने में बदल दिया। जब राजा को पता लगा कि यह कबीर के चमत्कार का फल है तो वह पुत्र-कलत्र और प्रजा-सहित उनका अनुयायी हो गया। यह ग्रंथ विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के मध्य का लिखा जान पड़ता है। इससे पहल ही गढ़वाल में कबीर-मत के प्रचार का प्रयत्न हुआ होगा। जिसको नगण्य सफलता मिली। राजा के कबीर का अनुयायी होने की बात पंथ का महत्व बढ़ाने के लिए गढ़ी गयी है, तथ्य नहीं है। लेखक ने यह कथा सत्ययुग की बतायी है।

यह कहा जा चुका है कि व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र की रचना बदरिकाश्रम में ही की थी। हिन्दी का भी थोड़ा सा आध्यात्मिक साहित्य गढ़वाल में लिखा हुआ मिलता है।

मोलाराम का नाम चित्रकारी के लिए प्रसिद्ध है। उसने चित्रकारी के साथ साथ कविता भी की थी।

मोलाराम ने नाना विषयों पर लिखा है। मोलाराम ने जो कुछ लिखा है, उसका काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं परन्तु अन्य दृष्टियों से उसका बहुत महत्त्व है। गढ़वाल के तत्कालीन इतिहास पर उनकी कविताओं से अच्छी तरह प्रकाश पड़ता है। थोड़ा-बहुत अध्यात्म विद्या पर भी उन्होंने लिखा है। साधना पंथ के मनोविज्ञान की दृष्टि से इन कविताओं का बड़ा महत्त्व है।

कुछ मनस्तत्ववेत्ताओं का मत है कि मनुष्य के सब भावों का मूल प्रेरक शृंगार ही है। यही एक भाव नाना रूप धारण कर मनुष्य के विविध क्रिया-कलापों में प्रकट होता है। जान पड़ता है कि मोलाराम के समय में गढ़वाल में भी एक साधना-पंथ ऐसा था जिसके आचार्यों को इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का ज्ञान था और उसी पर उन्होंने इस पंथ की नींव डाली थी। इस पंथ का नाम मोलाराम के अनुसार मनमथ-पंथ था। यह पंथ शक्ति का उपासक था। इस पंथ के अनुसार आदि शक्ति ही सर्वोपरि और सृष्टि का मूल है। अकल रूप में वह सदाशिव

है, निर्गुण है। सकल या सगुण रूप धारण कर वही सृष्टि रचती है।

आदि शक्ति रचना जब रची या विश्व माहिं
मन मथि के ध्यान धरो मनमथ हुलासा है।
मनमथ सौं इच्छा भई भोग औ विलास हूँ की
वाके हेत ब्रह्मा हरि रुद्र कौं प्रकासा है॥
आफे सावित्री भई कमला, गिरिनंदिनी जू तीनि
के अरधंग वैठि कीन्यों सुख विलासा है।
कहत मोलाराम काहू पंथ सौं न श्रेष्ठ चली—
मनमथ पंथ सेती सकल विश्व कौं निवासा है॥

एक से दो होने का कारण यही शृङ्गार-भावना है, उसीसे सारी भौतिक सृष्टि की रचना भी हुई है—

शक्ति सौं मनमथ भयो, मनमथ सौं मिथुन,
मिथुन मथन करि रचना रचाई है।
रचना सौं पंच तत्त पंड और ब्रह्मंड कीने,
तातें इह विश्व रूप सृष्टि के हलाई है॥
सृष्टि कीन्हि थावर और जंगम परकाल होय,
ता में चेतन शक्ति आपही समाई है।
कहत मोलाराम मन-आद आद-शक्ति जानो।
कै तो मनमथ-पंथ जगत जिनि उपाई है॥

संसार में जितना क्रिया-कलाप है, वह इसी मूल मनः शक्ति या प्रवृत्ति के नाना विध मथन से ही उत्पन्न हुआ है—

आदि शक्ति मन मथ्यो किये ब्रह्मा औ हरिहर।
भई सावित्री आफ लक्ष्मी गिरजा वपुधर।
मिथुन सों जग रचो सकल ही सृष्टि बनाई।
तदिन की मरजाद आजलौं चलि आई है॥
मनमथ को परश्रय जग मनमथ पंथी हैं सभी।
ज्ञानी ज्ञानवान बने कामदेव कहते कभी।
ब्रह्मा नै मन मथ्यो वेद शुभ सास्त्र उचारे॥
हरि नै मन मथ्यो भेक दस जगमहिं धारे।
शिव जोगी मन मथ्यो सब्द अनहद सुन्यो तहं॥
कमल सहस दल लख्यो तेज को पुंज महा जहं।
राव रंक जब मन मथै सकल काज तबहीं सरैं॥
मोलाराम विचार कही मनमथि कविता करै।
राजा मन कौं मथै राज का नीति चलावै॥
मंत्री मन कौं मथै प्रजा कौं सुबस बसावै।
परजा मन कौं मथै पतिव्रत मन महि धारै॥
चाकर मन कौं मथै जग महिं शत्रु सिंहारै।
सतजुग त्रेता द्वापर सौं चलि आयो पंथ इह॥
मोलाराम विचार कहि सबही कौं शुभ संत इह।

ब्राम्हन नै मन मथ्यो सास्त्र पट् कर्म उचारे ॥
छत्रिन नै मन मथ्यो गज दुज विरता पारे।
वैस्यहि नै मन मथ्यो वणज वेहवार चलायो।
शुद्रहि ने मन मथ्यो टहल करि दरब कमायो।
मनमथ पंथी हैं सभी चार वर्ण जुग चार सौं ॥
मोलाराम विचार कहो रहन सभी आचार सौं।
ब्रम्हचारि मन मथ्यो ब्रम्ह सर्वत्र जगायौ ॥
जोगी नै मन मथ्यो वायु ब्रम्हंड चढ़ायौ।
जंगम हु मन मथ्यो जगत की छाड़ि आसा ॥
सिन्नासी मन मथ्यो कर्म कीनो सब नासा।
मन मथि के दरवेस सदर दरसन तन मैं पाइयौं ॥
मोलाराम कहि से बड़ा मन मथ सुगम बताइयौं।
मन मथि के शुभ चित्र चित्रकारी नित करहीं ॥
मनमथ रत्न जड़ाव स्वर्ण जड़िया शुभ जरहीं।
मन मथि कै पद ललित छंद कवि जब उचारत ॥
मनमथि कै पग मंद चोर घर महि धारत।
मनमथि नादी नादहि रागरंग सब उचारैं ॥
मनमथ का सा पंथ सकल काज जातौं सरैं।

इस प्रकार मोलाराम के अनुसार आध्यात्मिक साधना धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, साहित्य, संगीत, कला वाणिज्य-व्यवसाय सब क्षेत्रों में एक ही मूल प्रवृति नाना रूपों में काम

करती है। मनमथ, कामदेव आदि शब्दों के व्यवहार से यह नहीं समझना चहिए कि जिस पंथ का वर्णन मोलाराम ने किया है, वह व्यभिचार फैलानेवाला पंथ है। मोलाराम ने स्पष्ट शब्दों में कुमार्ग का त्याग दया दाक्षिण्य युक्त गृहस्थ धर्म को पालना, मन को साधना और अंतर्मुख जीवन बिताना आवश्यक बतलाया है—

है तुहु अन्दर बैठें निरंतर लेख्यो लिलाट कहीं नहीं जावै।
छाड़ि कुमारग मारग मैं रहौं, घृत्त कौं मूल दया हितरावै॥
साधन तें मन साधले आपनों मोलाराम महा सुप पावै।
है तुहु अन्दर दुइत मन्दर क्यों जग बन्दर सौं भरमावै॥

वस्तुतः इस पंथ ने मनुष्य की वास्तविक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और अपनी साधना को दृढ़ आधार शिला पर रखा है, जिससे साधक धोखे मे न पड़े। जैसा 'यतः प्रवृत्ति प्रसृता पुराणी' से पता चलता है। गीता भी मानती है कि फैलाव जितना है प्रवृत्ति का है। इसलिए वही पंथ जो इस प्रवृत्ति को ध्यान मे रख कर चलता है वस्तुतः लाभदायक हो सकता है। अतएव मोलाराम ने जीव से सीव (शिव ब्रह्म) होने का एक मात्र उपाय बताया है। इस मन-शक्ति को उपयुक्त रूप से मथन कर उसे नाना दिशाओं में दौड़ने से रोक कर एक ही स्थान में लाना यही सारी साधना का सार है, इसी का दूसरा नाम निवृत्ति तथा योग है—

मनमथ पंथी होय अपनो मन समझावैं।
ठौर-ठौर सों मेट एक ही ठौर में लावैं॥
जिन ब्रह्मा हरि किये सदा शिव कों वर दीन्यों।
राषे कोट तेतीस पक्ष ताको हम लीन्यौं॥
वही हरहि कलेस सर्वभय-त्राता निज भक्तन ही।
करै संत प्रतिपाल नित मोलाराम विचार कही॥

मन के साथ जोर जबर से काम नहीं चलता। उसे बलात् एक स्थान पर सिमटाना असम्भव है। इसीलिए मनको समझाने का उपदेश है।

काहू सों बकवाद नहीं हम करैं करावैं।
मनमथ पंथी होय अपनो मन समझावैं॥
कहा बाद मैं स्वाद जो हम काहूँ सो बादैं।
जे सज्जन कुलवन्त संत सो मन कौं साधैं॥
मोलाराम विचार कही सुनो पंच प्रवीन तुम।
भये भक्त जगमाहि जे सब दासन के दास हम॥

जितने योग के साधन हैं, सब का उद्देश्य मन को समझा-बुझा कर एक ठिकाने लाना है। जप, तप, पट, चक्र-वेध नादानुसंधान, ज्योति दर्शन सब का मनमथ पंथ में मोलाराम के अनुसार उचित स्थान है। यहाँ पर इतना स्थान नहीं कि मोलाराम के इस सम्बन्ध के पूरे उद्धरण दें। परन्तु इतना तो स्पष्ट हो गया है कि मोलाराम का यह मनमथ पंथ मनस्तत्व और दर्शन के

उच्च सिद्धान्तों पर टिका हुआ एक शुद्ध साधना मार्ग है। इसमें प्राचीन परम्परा से आती हुई उन बातों का मोलाराम ने सिद्धांत रूप से सम्वत् १८५० के लगभग उल्लेख किया था जिनको मनस्तत्व के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान् समझ रहे हैं कि हम ही पहले पहल आविष्कार कर रहे हैं। इन्ही बातो के कारण मोलाराम के अनुसार यह पंथ अमृत का सार है। जो उसे जानते हैं उन्हें ब्रह्मानन्द लाभ होता है—

मनमथ को पंथ ऐसो, इमृत को सार जैसो।
जानत हैं सोई सत ब्रह्म को विलासा है॥

इसी प्रकार स्वामी शशिधर का भी गढ़वाली संत साहित्य-कारों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा हरिमुनि शर्मा इनका बड़ा आदर करते थे। सं० १८८२ में ये ब्रह्मलीन हुए। इनके रचे हुए १—दोहों की पुस्तक (दोहावली), २—ज्ञानदीप, ३—सच्चिदा-नन्द लहरी, और ४—योग-प्रेमावली का विवरण नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (१९१२-१९१४) में मिलता है।

ये बड़ी पहुँच के ज्ञानी थे। जीवन-मुक्त होकर इसी शरीर से वे उस ब्रह्म पद को प्राप्त हो गये थे, जहाँ ब्रह्म की सृष्टि और विष्णु के अवतारों की पहुँच नहीं। रूपक की भाषा में उन्होंने ऐसे शहर मे व्यापार करने की बात कही है—

ब्रह्मा न रचे जहाँ विष्णु को नहि अवतार।
ऐसो सहर मे सदा करै सब वसि वजार॥

एहि जाने सो ताको पंडित, करै कुतवाल बसाइ।
जाने बिना मिले नहीं, मूढ़ करि होत थकाइ॥

—दोहावली

सब को वे उस स्थान तक पहुँचने का आदेश देते हैं। ब्रह्मानुभव के आनन्द का उन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।

ध्यान भजन तहाँ नहिं पूजा, आपे आप अतीत आवरण दूजा।
बंधन-मोक्ष तहाँ पूरण आनंद, आपे आप सहज खेले निरबंद॥

—सच्चिदानन्द लहरी

इस पद तक पहुँचने का उन्होंने जो मार्ग बतलाया है उसमें भी मन की शक्तियों का भली-भाँति ध्यान रखा गया है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्म-लीन होने के लिये ब्रह्म-बोध होना आवश्यक है और ब्रह्म-बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक मन को बोध विषय की प्रतीति नहीं होती।

मैं क्या कहूँ कहँ यति सति सभ कोई,
सभ सभी गावै जो बुझै सो सभ होई!
प्रतित सें बोध होवै बोध से लय लागे मन,
मन के गति मुनि जाने जाके मिलि गये तन।

—ज्ञानदीप

मन को बिना कष्ट पहुँचाये सुख से अंतर्मुख करने के लिए उन्होंने मन के सामने कृष्ण का परम प्रेमालुप्त स्वरूप रखा है।

नमस्ते नन्द कुमार नमस्ते गोपिका वर।
बोधात्मा साधनी गावै दीन दास शशिधर ॥

कठिन योग को इस प्रकार प्रेममय बनाकर उन्होंने उसके हठा स्वरूप को कृष्ण के द्वारा मन के लिए आसानी से ग्राह्य बना दिय है। क्योंकि कृष्ण में हमें प्रेम और ज्ञान दोनों का समन्वय मिलता है। भागवत और महाभारत (भगवद्गीता जिसका एक अंश मात्र है), इसके साक्षी हैं। श्रीकृष्ण इसी लिए हमारे पुराणेति-हास आदि के सार हैं और ज्ञान के साक्षी तथा स्वयं योगिराज और योगियों के साध्य भी हैं—

श्रुति स्मृति पुराणात्मा
बाध साक्षि विद्याधर।
देवकी नंदन नाथ
श्रीकृष्ण साधका वर॥

महाभारत मे कृष्ण ने योगत्रय-मूला गीता कही है और भागवत में प्रेम मार्ग का निदर्शन किया है मानो दोनों का सार लेकर स्वामी शशिधर ने योग-प्रेमावली कही है। इस प्रकार तन-मन को अधिकार में कर आत्मबोध के द्वारा साधक अपनी अवि-नाशी सत्ता को प्राप्त करता है। भगवद्भजन और प्रपत्ति की भी होने महत्ता गायी है।

काया कर निकर मुख राम भजि
भक्ति मन आत्मा जागला।

येति निज नाम खेवा खियायि
भवाब्धि की बड पार लागला ॥

—योग-प्रेमावली

यहाँ पर साधना के अतिरिक्त 'जागला' और 'लागला' आदि में उनकी भाषा का पहाड़ीपन ध्यान देने योग्य है।

गढ़वाल में संत-साहित्य का मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं। तितीक्षा और वैराग्य का पाठ पढ़ने युग-युगान्तर से साधक लोग इस तपोभूमि में आते रहे हैं। ब्रह्म विद्या का तो इसे घर होना चाहिये। मैंने जो कुछ यहाँ लिखा है, वह तो लेशमात्र है जो मुझे आसानी से प्राप्त हो गया। गढ़वाल ही नहीं समस्त पर्वतीय देशों में अध्यात्म विद्या के ही नहीं किसी प्रकार के साहित्य का भी अभी तक अच्छी तरह से अन्वेषण नहीं हुआ है। उन्मेषशील युवक समाज से आशा की जाती है कि वह उत्साह-पूर्वक इस काम को अपने हाथ में लेगा। हमारे वयोवृद्ध उन्हें साहित्य के कल्याण-मार्ग पर सत्प्रेरणा दें और श्रीमंत उनकी कठिन साधना से प्राप्त सामग्री को प्रकाश में लाने के साधन सुलभ करें जिससे एक परिश्रम का साफल्य उत्तरोत्तर और परिश्रमों तथा प्रयत्नों की प्रेरणा करता रहे।

कणेरी पाव

(अशोक से उद्धृत)

कणेरी पाव हिंदी के आदि युग के उन संदेश-दाताओं में से हैं जिन्होंने जनता के मर्म को छू पाने के लिए जनभाषा को अपनाना अनिवार्य समझा। उनकी गिनती चौरासी सिद्धों में होती है। अपनी अमर सिद्धियों की रहस्यमय निधि को स्वायत्त करने का सर्वजनीन खुला निमंत्रण इन्होंने हिंदी के ही द्वारा दिया था। उनकी हिंदी रचनाओं का संस्कृत अनुवाद भी मिलता है, जिसके आदि में लोकेश्वर नाथ-रूप में उनकी वंदना की गई है। वंदना के श्लोक यहाँ दिए जाते हैं—

> वंदे नाथं परं ब्रह्मं सिद्धानां सिद्धिदं स्वयं।
> निर्मलं लोकनाथेशं कणेरि मुक्ति कारणं॥ १॥
> श्रीमंतं नाथसर्वेशं रमणं गुरुरूपिणं।
> निर्विकारमहं जाने कणेरिं द्वंद्वकार्मुकं॥ २॥
> ककारात् सर्वकर्तेति, णकाराद्रणवर्जितः।
> रकाराज्ज्योविरमणः श्री कणेरी श्रियेऽस्तुनः॥ ३॥

भगवान की नाथ-रूप में भावना नाथ-पंथ की विशेषता है; परंतु उसका आरंभ बौद्ध तंत्रों में ही हो गया था। उसे बोधि सत्त्व पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का पहचान से बाहर हो गया-

हुआ रूप समझना चाहिए। प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि में समस्त त्रैधातुक विश्व का कर्त्ता वज्रनाथ कहा गया है—

संभोगार्थमिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः

निर्मितं वज्रनाथेन साधकानाम् हिताय च। (पृ० २३, श्लोक ३१

राणा श्री केशर शमशेरजंगबहादुर (काठमांडु) के पुस्तकालय में श्री गुइसेप टुची का एक हस्तलेख मिला है जिसके आरंभ में मंजुवज्र के बाद नाथ की वंदना की गई है— मञ्जु वज्र प्रणाम्यादौ नाथ-पादमनंतरम्*। इसमें वज्रनाथ में का वज्र तो लोकेश्वर का द्योतक होकर मञ्जु वज्र हो गया है और नाथ केवल गुरु का बोधक रह गया है। गुरु को नाथ कहने का रहस्य यह है कि वह सशरीर वज्रनाथ है। परंतु आगे चलकर नाथ केवल गुरु न रहे बल्कि साक्षात् वज्रनाथ के आसन पर जा विराजे, और असली वज्रनाथ मञ्जुवज्र त्याग दिए गए। लामा और नाथ दोनों एक ही भाव के द्योतक समझे जाने चाहिएं। वज्रयान ने तिब्बती परिस्थितियों में लामा संप्रदाय को और दक्षिण पश्चिम भारतीय परिस्थितियों में नाथ संप्रदाय को जन्म दिया। कणेरी नाथ-संप्रदाय के रहे हों या न रहे हों, वे नाथ (गुरु) अवश्य थे। नवनाथों में उनकी गिनती नहीं है, पर आजकल के नाथ-संप्रदायवाले उन्हें नाथपंथी ही बतलाते हैं। नवनाथों का नाथ-संप्रदाय बौद्ध धर्म के घेरे से बिल्कुल अलग हो गया था।

---

* जर्नल बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २६, पृ० १४८

वज्रनाथी भी यद्यपि विशुद्ध बौद्ध नहीं थे तथापि नाम-मात्र के लिए वे अभी उसी घेरे में थे। यही कारण है कि बहुत से सिद्ध ऐसे मिलते हैं जिन्हें विचार-धारा के अनुसार नाथपंथी समझना चाहिए परंतु जो नाम-मात्र के संबंध के कारण वज्रयानी भी समझे जाते हैं। इन्हीं में से कणेरी भी एक हैं।

कणेरी पाव कर्णरीपाद का विगड़ा रूप है और असली नाम न होकर व्यक्तिगत विशेषता का द्योतक अप-नाम है। कोई-कोई कणेरी को काण से भी निकालते हैं। कणेरी का असली नाम आर्यदेव था। नाथ रूप में वे वैरागीनाथ कहलाते हैं। वज्रयानी ग्रंथों में भी उनका यह नाम मिलता है†। गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में वैराग्यनाथ पंथ प्रवर्तकों में गिने गए हैं।--अवद्यश्चैव वैराग्य कंथाधारी जलंधरक मार्ग प्रवर्ता होते तद्वच्च मलयार्जुनः। (पृ०१९) नाथों में तेरह पंथ हैं। इनमें से एक सँपेरों का है। नाथपंथी परंपरा में कहीं कहीं सँपेरो का पंथ आधा ही गिना जाता है, क्योंकि सँपेरों ने योगमार्ग को छोड़ कर आजीविका को ही प्रधानता दे डाली है। इसलिए तेरह के स्थान पर साढ़े बारह पंथ भी माने जाते हैं। कणेरी आजकल के इसी आधे पंथ के आदि गुरु थे। महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने 'बौद्धगान और दोहाकोष' की भूमिका में लिखा है कि गोरखनाथ का बौद्ध (वज्रयानी) नाम रमणवज्र था। यही बात उन्होंने नगेंद्रनाथ

† जर्नल बं० ए० सो०, भाग २६, पृ० १४८

सेन की 'मौडर्न बुधिज्म' के पूर्व वचन में भी लिखी है। परंतु लामा तारानाथ ने गोरखनाथ का वज्रयानी नाम अनंगवज्र बतलाया है। ऊपर की वंदना से तो यही भान होता है कि रमणवज्र भी कणेरी पाव का ही एक नाम है। उसमें 'ज्योति-रमण:' कहकर इस वज्रयानी नाम की नाथपंथी व्याख्या की गई है। अन्य सिद्धाचार्यों के भी इसी प्रकार तीन-तीन चार-चार नाम मिलते हैं। यह भी देखने में आता है कि साधना को अलग-अलग मंजिलें तै करने पर नये-नये नाम पड़ जाते हैं। दुची के उपर्युक्त हस्तलेख में किसी दामोदर का उल्लेख है जो साधना करते करते अद्वय वज्र हो गया (अद्वयवज्रनोऽभवत्) रमणवज्र और वैराग्यनाथ साधना पथ में तै की हुई मंजिलों के द्योतक भी हो सकते हैं।

चीनी और तिब्बती परंपराओं में कणेरी का संबंध नागार्जुन से माना जाता है। चीन में नागार्जुन की दो परंपराएँ मिलती हैं। एक के अनुसार कणेरी नागार्जुन के शिष्य और राहुल के गुरु थे (नागार्जुन-कणेरी-राहुल) तथा दूसरी के अनुसार वे राहुल के गुरु न होकर शिष्य थे और राहुलनागार्जुन के शिष्य (नागार्जुन-राहुल-कणेरी) तिब्बती लामा तारानाथ के अनुसार कणेरी (आर्यदेव) नागार्जुन के शिष्य थे, पर नागार्जुन राहुलभद्र के (राहुलभद्र-नागार्जुन-कणेरी)।* कणेरी की एक हिंदी रचना

* जर्नल बं० ए० सो०, पृ० १४२ पाद-टिप्पणी।

उन्हें 'आदिनाथ नाती मछिंद्र नाथ पूता' बतलाती है। दूसरी में कणेरी ने यद्यपि नागार्जुन का नाम उस आदर के साथ नहीं लिया है जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाना चाहिए, फिर भी वे जिज्ञासु रूप में उनके सामने जाते हैं—'पूछे कणेरी नागा अरजॅद प्यंड छोडि प्राण कहाँ समाई'। यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि छंद की आवश्यकता के आगे शिष्टाचार को दब जाना पड़ता है। 'आदि नाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, जागे गोरख जग सूता' गोरखनाथ के साथ इतनी बार आता है कि लेखकों के प्रमाद अथवा स्मृति-भ्रम से उसका अन्य सिद्धों के साथ भी लग जाना असंभव नहीं। यह भी हो सकता है कि यह मछिंद्रनाथ और नागार्जुन एक ही हों। काश्मीर की परंपरा में मछंद एक उपाधि-मात्र है। अभिनव गुप्ताचार्य ने तंत्रालोक में मच्छंद शब्द का प्रयोग किया है। इसकी व्याख्या करते हुए राजानक जयद्रथ ने कहा है "पाश खंडन स्वभावो मच्छंद एव' यह पाश चंचल इंद्रियों का द्योतक है जो बंधन की कारण होती हैं।‡ नेपाली बौद्ध परंपराओं के अनुसार मछंदर का असली नाम मच्छन्न था। अतएव मछिंद्र नागार्जुन की ही उपाधि भी हो सकती है। ये कविताएँ दो भिन्न कवियों की भी हो सकती हैं, एक नागार्जुन के शिष्य कणेरी की और दूसरी मछिंद्र के शिष्य कणेरी की। एक ही नाम के कई व्यक्तियों का

‡ जर्नल ए० ए० सो०, भाग २६, पृ० १५३

मिलना इन योग पंथों में कोई नई बात नहीं है। नवीन सिद्धाचार्य प्राचीन सिद्धाचार्यों के अवतार माने जाते थे, और उन्हीं पुराने नामों से अभिहित किए जाते थे। सिद्धों के इतिहास में बहुत कुछ गड़बड़ाध्याय इसी नामैक्य ने मचा रखा है। परंतु इस प्रकार का नामैक्य एक ही काल के लोगों में नहीं पाया जा सकता, उसमें काल का कुछ अंतर अवश्य होना चाहिए। नाथ पंथ में गृहीत होना ही इस बात का सूचक है कि यदि ये दो कणेरी हैं तो इनके बीच में समय का कोई विशेष अंतर नहीं। अतएव यह विकल्प ग्राह्य नहीं है। 'मछिंद्र पूता' वाली कविता चार हस्तलेखों में से एक ही में मिलती है, जब कि 'नागारजंदवाली' चारों हस्त लेखों में। त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत के सस्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१ ई० से १२७९) की ग्रंथावली स-स्क्य-ब्कं-बुम् तथा कौडियर की सूची के आधार पर चौरासी सिद्धों की एक बड़ी उपयोगी तालिका बनाकर 'गंगा' के पुरातत्त्वांक में छपाई है जिसमें यथा संभव देश-जाति-काल आदि की भी सूचना दे दी गई है। इस तालिका के अनुसार भी कणेरी नागार्जुन के ही शिष्य ठहरते हैं। इन सब साक्ष्यों का ध्यान रखते हुए कणेरी को नागार्जुन का शिष्य मानना उचित है। यह भी संभवता की सीमा से बाहर नहीं है कि कणेरी पहले नागार्जुन के शिष्य रहे हों और बाद को जलंधर के शिष्य हो गये हों।

कणेरी के समय का तो सीधा उल्लेख कहीं नहीं मिलता परंतु इनके गुरु नागार्जुन के संबन्ध से इनका समय भी स्थिर किया जा सकता है। नागार्जुन कई हो गए हैं। सबसे पहले नागार्जुन माध्यमिक आचार्य थे, दूसरे रसेंद्राचार्य जिन्हें नागार्जुन-गर्भ भी कहते हैं और तीसरे वज्रयान के आचार्य। इसमें संदेह नहीं कि वज्रयान के आचार्य नागार्जुन ही कणेरी के गुरु थे। कणेरी (आर्यदेव) को काणदेव (आर्यदेव) के साथ नहीं गड़बड़ाना चाहिए जो पुराने नागार्जुन के शिष्य थे। सांकृत्यायनजी की तालिका में यह नागार्जुन सरह का शिष्य बतलाया गया है, और सरहपा पालराजा धर्मपाल का सम-सामयिक। इस हिसाब से हम सरह के शिष्य नागार्जुन को धर्मपाल के पुत्र देवपाल (८६६–९०६) का समकालीन मान सकते हैं। अलबेरूनी जब सं० १०८७ में भारत आया था तब उसने नागार्जुन की ख्याति सुनी थी, जो उससे एक शताब्दी पहले हो गया था। यद्यपि जनश्रुति ने अलबेरुनी को यह रसेन्द्राचार्य का समय बताया था तथापि यथार्थतः यह वज्रयानी नागार्जुन के समय की ही अंतिम सीमा हो सकती है। अलबेरुनी के अनुसार नागार्जुन का अंतिम काल ९८७ सं० के लगभग ठहरता है, पर जनश्रुति से प्राप्त समय को बिल्कुल सही मानना भी ज्यादती है। अतएव नागार्जुन के समय का अंत ९०६ और ९८७ सं० के बीच मानना चाहिए। यही या इसके आस-

पास नागार्जुन के शिष्य कणेरी का भी ठीक समय होना चाहिए।

कणेरी विहार के रहने वाले थे। भिक्षु होने के बाद नालंदा में भी वे कुछ समय तक रहे थे। मालूम होता है कि ये तंत्र-विद्या और दर्शन के अच्छे पंडित थे। तंजूर में आर्यदेव के दर्शन के ९ और तंत्र के १६ ग्रंथों का अनुवाद हुआ है, परंतु यह कहना कठिन है कि इनमें से कितने काणदेव के हैं और कितने कणेरी के। यदि समय की प्रवृत्ति की ही ओर ध्यान दें तो दर्शन के ग्रंथ काणदेव के होने चाहिए और तंत्र के कणेरी के। लेकिन इसका ठीक-ठीक निर्णय तभी हो सकता है जब कोई भोटिया का ज्ञाता इन पुस्तकों का फिर से अनुवाद किसी आर्य-भाषा में उपस्थित कर दे। तंत्र के ग्रंथों के संबंध में कहा जाता है कि उनमें मुद्राओं और कर्मों का वर्णन है। तंत्र के ग्रंथों में से एक का नाम *'निर्विकल्प प्रकरण'* है जो *सांकृत्यायन जी के अनुमान* से हिंदी का है। चर्याचर्यविनिश्चय में इनका एक पद मिलता है जो अपभ्रंश-मिश्रित भाषा में है। नाथ-पंथी परंपरा में भी उनकी हिंदी की कुछ कविता मिलती है। मुझे चार हस्तलेखों में उनकी हिंदी रचना मिली है। (क) इनमें से एक जयपुर की है जो अब पौड़ी (गढ़वाल) में है, (ख और ग) दो जोधपुर के और (घ) एक बिकानेर का। इनको मैं क्रमशः क, ख, ग और घ प्रति कहूँगा। (क) में औरों से एक पद अधिक है और

यही सबसे पुरानी भी जान पड़ती है परंतु यह भी १७ वीं शताब्दी से पहले की लिखी नहीं हो सकती। ख तथा ग भी लगभग इसी समय की होगी और घ लगभग १९ वीं शताब्दी के आरंभ की। इन्हीं के आधार पर मैंने कणेरी की कविताओं का संपादन किया है जो इतनी कम हैं कि संपूर्ण को सटीक यहाँ दे देना अनुचित न होगा। इन पद्यों की भाषा का सुधरा हुआ रूप देखकर भड़कने की आवश्यकता नहीं। जिन भाषाओं में हिंदी का साहित्य भांडार भरा हुआ है वे उतनी नवीन नहीं हैं जितनी लोग उन्हें समझते हैं। दाक्षिण्यचिन्होद्योतनाचार्य ने संवत् ८३५ की लिखी अपनी 'कुसुम-माला' में मीना बाजार में आए हुए मध्यदेशीय वणिक् के मुह से 'तेरे मेरे आउ' कहलाया है ("तेरे मेरे आउत्ति जंपिरे मज्झ देशेय।" *) जो हिंदी का काफी विकसित रूप है और यह वाणी तो प्राय. डेढ़ सौ वर्ष बाद की है। हाँ, यह मैं नहीं कहना चाहता हूँ कि परंपरा में चले आते हुए इनमें कुछ परिवर्तन ही न हुआ होगा, लेकिन वह परिवर्तन इतना अधिक न हुआ होगा कि मूल वस्तु का स्वरूप ही इनमें न रहने पाया हो।

कणेरी पाव की सबदी

संगी नहीं संसार[1] चीत नहि आवै वैरी।
निरभय होय निसंक हरिष में हस्यौ कणेरी ॥१॥

---

* अपभ्रंश काव्यत्रयी (गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज) पृष्ठ ९१।
१ घ—संसार।

संसार मे कणेरी का न कोई सगा है, न कोई उसे चित्त मे वैरी ही जान पड़ता है; इसलिए वह निर्भय और निःशक होकर हर्ष से हसता है।

हस्यौ कणेरी हरिष में येकलड़ो आरण[1]।
जुरा विछोही जो मरण[2], मरण विछोह्या मन ॥२॥

कणेरी अरण्य म अकेला ही हर्षातिरेक से हँसता है, क्योंकि उसने बुढापे से मौत और मौत से मन को अलग कर दिया है। (उसे जरा मरण का भय नहीं सताता)

अकल कणेरी सकलै वद[3],
निन परचै जोग निचारै छद[4]।
विन परचै जोग न होसी रावल,
भुस[5] कूट्या क्यों निकसै[6] चावल ॥३॥

कणेरी निष्कल, निराकार, निर्विकल्प स्वरूप है, जो साकार, सविकल्प, सकल है वह सब बधन का कारण है। विना आत्मानुभूति के योगाभ्यास व्यर्थ का धधा मात्र है। विना आत्मानुभूति के योग नहीं होता, भूसा कूटने से कभी चावल निकल सकता है ?

---

१ ख, ग—यक कलहा आराणि। घ—एकलड़ो आराणि। २ घ—जनमिथैं। ३ घ—सकल बधि। ख, ग—बध। ४ ख, ग—थपाणै [धध]। घ—थपाणें धध। ५ क—शुष (नाल के ऊपर के ताग जैसे पैने झीस)। ६ क—जावे।

मनवा मेरा बीज-विजोवै, पवना बाड़ि वलाई[१] ।
चेतनि[२] रावल पहरे बैठा मिरघा पेत नं[३] पाई ॥ ४ ॥

मेरा मन बीज बोता है, पवन खेत में बाड़ लगाता है और हे रावल, चेतन (आत्मा) पहरे पर बैठा रहता है कि मृग (पशु) खेत न खा जायँ ।

जागौ पसुवा जे मति हीणा ज्यांह न पाया भेव[४] ।
काळ विकालहि[५] टांकर मारे सोवै[६] कणेरी देवं ॥५॥

जिन्होंने (योग का) भेद (रहस्य) नहीं पाया वे मूर्ख पशु जागते रहें । कणेरी देव तो काल और द्वैत-रूप काल अथवा सुकाळ और दुरकाल को ठोकर से मार सो रहे हैं ।

चौसै[७] चन्दा रात्यौं[८] सूर । गिगनि[९] मंडळ में बाजहि तूर ।
सति सति का सबद[१०] कणेरी कहै । परम हंस थिर काहे नर है ॥६॥

दिन में चंद्रमा और रात में सूर्य का योग होने से (मूलाधार स्थित अमृतशोषक सूर्य का सहस्रार स्थित सुधावर्षक चंद्रमा में लय हो जाने से) गगन मंडल में (त्रिकुटी की साधना कर लेने पर) तुरी (अनाहत नाद) बजती है । कणेरी सत्य का निर्देशक

---

१ अ ख-ग—वाड़ि लगाई । २ ख—ग—चेतन । ३ क में 'न' नहीं है, परन्तु यह या तो मेरे ही नकल करने में गलती है अथवा मूल प्रति के लेखक की । ४ ख, ग, घ—भवे देव । ५ ख—दुकाल । ६ क—यूं सोवै । ७ घ—दौसहे या द्यौसहि । ८ क—रात्या । ९ घ—गगन । १० ख, ग—सति सबद ।

शब्द कहता है। परमहंस (तुम उसे अवधारण कर) स्थित क्यों नहीं हो जाते ?

कहाँ[1] थैं ऊगै कहाँ थैं आथवै कहाँ थैं रैनि विहाई।
पूछै कणेरी नागा अरजन[2] प्यंड छाडि[3] प्राण कहाँ समाई ॥७॥

कहाँ आत्मा उदित होता है, कहाँ अस्त, कहाँ वह रात्रि (संसार में जीवन-काल) व्यतीत करता है। कणेरी पूछता है, हे नागार्जुन ! शरीर को छोड़ने पर प्राण कहाँ समा जाता है ?

सहजैं अवना सहजैं गवना। सहजैं-सहजैं वहै पवना।
सहजैं-सहजैं फीरै बाई। सहजैं-सहजैं चिर कायी ॥ ८ ॥

आना-जाना सहज रूप से होता रहता है। पवन भी सहज रूप से चलता रहता है। सहज रूप से वायु को फिरावे। सहज रूप से ही काया चिरस्थायिनी हो जायगी।

पद [राग गुड]

आछै आछै महिरै मंडलि कोई सूरा,
मारा मनवा नै समझावैरेलो।
देवता नै दाणवा येणे मनवै व्याह्या,
मनवा नै कोई ल्यावै रेलो ॥टेक॥

जोति देखि-देखि पड़े रे, पतंगा, नादै लीन कुरंगा रेलो।
यहि रस लुब्धि मैंगल मातो, स्वादि पुरिष तैं भौंरा रेलो ॥

---

१ घ—में पत्र न० ७ और ८ नहा हैं। २ क—नागा अरजँद।
३ न, ग—छोड़ि।

घड़ी एकै मनऊ नथ गोधिलौ, घड़ी एकै विषिया रातो रेलो।
यंद्री बाँधे जोगी जत्तीन होइग्रा, जब लग मनउ न बाँधे रेलो॥
पांहण पांये गाठेरड़ा लोहड़ा, तेउ काले रस खाधा रेलो।
समदह लहरयां पार पाइए, मनवानी लहरयां पार न पाइए रेलो॥
आदि नाथ नाती मछिद्रनाथ पूता जती कणेरी इम बोल्या रेलो।

महिमंडल में है कोई ऐसा शूर जो मन के मारे को समझा सके? देवता और दानव सब मनही का विहित है, कोई मन को वश में ले आ सकता है? ज्योति पर पतंग गिर पड़ता है और संगीत पर हरिण। इसी रस के लोभ से मदगलित गज की तरह मत्त होकर पुरुष स्वाद के अर्थ भौंरा (फूल-फूल पर चक्कर लगाने-वाला) बना हुआ है। घड़ी भर के लिए तो मन भी नाथ में गुम जाता है, लेकिन फिर एक घड़ी में वह विषयों में रत हो जाता है। जब तक मन को नहीं बाँधते तबतक खाली इंद्रियों को बाँधने से कोई यती नहीं हो सकता। इंद्रियों के पाँवों पर पत्थर अथवा लोहा क्यों न गठ डाला जाय तो भी मन काल के लिए इंद्रिय-रस खाता रहेगा। समुद्र की लहरों का पार लग जाता है, मन की लहरों का पार नहीं मिलता, आदि नाथ का पौत्र शिष्य और मछिद्रनाथ का पुत्र शिष्य यती कणेरी इस प्रकार कहता है।

गंगाबाई

(सुधा से उद्धृत)

गंगाबाई परम भक्ता नारी-कवियों में हैं। वह माधुर्य और आलोक की गंगा हैं। वह उन तरल प्रकाश-केंद्रों में से हैं, जिनकी किरणें तमसावृत हृदयों को भी आलोक से प्लावित कर सकती हैं। उनके हृदय की पावनी किरणें उनके काव्य से फूट पड़ती हैं।

संभवतः यमुना के साथ-साथ इन्हीं गंगा के लिये गोस्वामी हितहरिवंशजी के शिष्य ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त-नामावली में कहा है—

गंगा, जमुना तियनि मैं परम भागवत जानि ;
तिनकी बानी सुनत ही बढ़ै भक्ति उर आनि*।

---

* ध्रुवदासजी की उल्लिखित गगा को भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'वैष्णव-सर्वस्व' में गोस्वामी हितहरिवंशजी की शिष्या माना है। बाबू राधाकृष्णदास ने भक्तनामावली की टिप्पणी में तथा हिंदी-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार मिश्रबंधुओं ने भी अपने विनोद में यही माना है (स० ९७)। परंतु यह भी संभव है कि ध्रुवदास की उल्लिखित गगा और वार्ता की गगाबाई दोनो एक हों। क्योंकि ध्रुवदासजी ने केवल

यद्यपि इतिहास के माप से गंगाबाई के और हमारे बीच में समय की बहुत बड़ी खाई है, फिर भी भाव-स्वरूप में उनके कल्याणकारी दर्शन आज भी सुलभ हैं। यह आश्चर्य की ही नहीं, दुर्भाग्य की भी बात है कि वह अब तक अज्ञात-सी ही हैं।

गंगाबाई के जीवन के संबंध में प्रामाणिक बातें अधिक नहीं मिलतीं। उनके संबंध में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'श्रीनाथजी का प्राकट्य' से जो कुछ पता चलता है, वह अलौकिक और अत्यंत चमत्कार-पूर्ण है। उसकी लोकोत्तरता से मनुष्य को चकित रह जाना पड़ता है।

गंगाबाई का जन्म अलौकिक रीति से हुआ था। उनकी जन्म-कथा कुछ-कुछ ईसा मसीह के जन्म के कथानक से मिलती है। वार्ता में लिखा है कि गंगाबाई की माता गोसाईं विट्ठलनाथ-जी की सेविका थी, और महावन में रहती थी। वह उनकी

हितहरिवंशजी के ही शिष्यों का उल्लेख नहीं किया है, और गंगा के संबंध में उन्होंने कोई ऐसी बात भी नहीं कही, जो उनके हितहरिवंश की शिष्या होने की ओर संकेत करे। गंगाबाई ध्रुवदासजी की समकालीन थीं। उनका समय वार्ता के अनुसार सं० १६२८ से १७३६ तक है, और ध्रुवदासजी के सं० १६८१ और १६८६ के रचे ग्रन्थ मिलते हैं। संभवतः गंगा की अथवा गंगाबाई की कविता ध्रुवदासजी ने स्वयं उन्हीं के मुँह से सुनी हो—"तिनकी बानी सुनत ही बढ़ै भक्ति उर आनि।"

अत्यंत भक्ति करती थी। उनके स्वरूप पर उसका मन अति मात्रा में लीन था। दैव-योग से उसके हृदय में गोसाईंजी के प्रति काम-भावना उद्दीप्त हो गई। परंतु उसकी इच्छा का पूर्ण होना असंभव था, क्योंकि गोसाईंजी इंद्रियजित् थे। पर-स्त्री को काम-दृष्टि से देखना भी उनके लिए न हो सकता था। गोसाईंजी को जब उसके हृदय की अवस्था का पता लगा, तब उन्होंने बारह वर्ष तक उसका गोकुल में आना बंद कर दिया, परंतु उसकी आसक्ति गई नहीं। वह हमेशा उन्हीं के ध्यान में लीन रहती। एक दिन स्वप्न में उसे गोसाईंजी के दर्शन हुए, और गर्भ-स्थिति हो गई। उससे जो संतति हुई, वही गंगाबाई थीं।

जब गंगाबाई की माता परलोक सिधार गईं, तब, वयस्का होने पर, वह भी गोसाईंजी की सेविका हो गईं, और महावन से आकर गोपालपुर में रहने लगीं। गोसाईंजी इस समय तक बहुत वृद्ध हो गए थे। गंगाबाई के प्रति उनका वात्सल्यभाव था। उनके उत्तराधिकारी उनका बुआ के समान आदर-सम्मान करते थे।

गंगाबाई स्वभाव ही से भक्ता थीं। वह सतत भगवान् के ध्यान और भजन में मग्न रहतीं। यहाँ तक कि भगवान् की लीलाएँ उन्हें अपने जीवन में ही अनुभूत होने लगीं। वह सदैव भावना-जगत् में विचरा करतीं। गोवर्धननाथजी उनके साथ हँसते, खेलते और नाना प्रकार से उन्हें अपनी लीला का दर्शन

कराते हुए परम सुख पाते थे। जिस-जिस लीलानुभूति की धारा उनके हृदय में उमड़ती, वह स्थिर होकर परमोज्ज्वल नक्षत्र के समान जगमगाते काव्य-खंड में परिणत हो जाती, और वह उसे श्रीनाथजी के चरणों में अर्पण कर आतीं। अपने इष्टदेव के सामने वह बेसुध होकर अपने पदों को गातीं। इन पदों की संख्या एक सहस्र से ऊपर पहुँची। जिनकी अनन्य भक्ति के कारण उनके हृदय से भाव-धारा निःसृत होती थी, उन्हीं के चरण पखारने के काम में वह आवे, भाव-जगत् की घटनाओं की यह स्वाभाविक परिपूर्णता थी। इससे गंगाबाई को भगवान् के प्रेम की परिपूर्णता अथवा पुष्टि प्राप्त हुई, जिसका प्रमाण श्रीनाथजी ने पर्याप्त रूप से दिया।

एक बार मुसलमानों के निरंतर आक्रमणों के कारण गोवर्धन में भगवद्भजन और पूजार्चन में बाधा पड़ने लगी। इसलिये श्रीनाथजी की मूर्ति को हिंदुत्व के रक्षक मेदपाटाधिप के राज्य में ले जाने का निश्चय किया गया। मेवाड़ जाते समय मार्ग में श्रीनाथजी मचल गए। उनकी गाड़ी रुक गई, आगे बढ़ने का नाम न लेती थी। कितने ही प्रयत्न किए गए, किंतु गाड़ी टस से मस न हुई। साथ में चलनेवाला गोसाइयों का समुदाय किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया। अंत में यही सोचा गया कि वृद्धा गंगाबाई कुछ कर सकें, तो कर सकें; उन्हीं से प्रार्थना की जाय। गोसाईं-बालकों ने बुआजी से निवेदन किया—"ठाकुर खीजि गयो है,

चलत्यो नायँ।" बुआजी ने श्रीनाथजी को समझाया-बुझाया, और गाड़ी चलने लगी।

वार्ता के अनुसार गंगाबाई क्षत्राणी थीं। उन्होंने संवत् सोलह सौ अट्ठाईस में अवतार लिया, और एक सौ आठ वर्ष तक भूतल पर रहीं। इनके भगवल्लीला में प्राप्त होने की कथा भी अत्यंत अलौकिक है। उस समय बुआजी मेवाड़ में थीं। श्रीनाथ-जी को जब उन्हें लीला में ले लेने की इच्छा हुई, तब उन्होंने हरिराय से कहा कि गंगाबाई को वस्त्राभरणों से खूब सजाकर रात को जगमोहन में बैठा देना। ऐसा ही किया गया प्रातःकाल होने पर देखा गया कि बुआजी का कहीं पता न था। रात को श्रीनाथ-जी ने उन्हें जगमोहन से सदेह लीला में ले लिया था।

गंगाबाई का काव्य उनके जीवन के ही समान भावुक है। पहले कहा जा चुका है कि भाव-लोक में भगवल्लीलाओं का उन्हें साक्षात्कार हुआ था। यह भगवदनुग्रह था, जिसकी छाप उनकी कविता में स्पष्ट है। इसीलिये गंगाबाई संभवतः अपने को अपने काव्य की कवयित्री नहीं मानती थीं। अपनी छाप की जगह वह भगवदनुग्रह को आंतरिक छाप के प्रतीक-स्वरूप 'विट्ठल गिरिधरन' की छाप रक्खा करती थीं। इससे सूचित होता है कि वह स्वयं गिरिवरधारी को अपने काव्य का रचयिता मानती थीं। भगवल्लीला के अतिरिक्त उन्होंने और कुछ नहीं लिखा। उन्हें अनुभूति ही और किसी वस्तु की नहीं हुई थी। लीलामय को

लीला के अतिरिक्त और कोई वास्तविकता संभवतः उनके लिये संसार में नहीं थी। उन्हीं में मग्न रहना उनके जीवन का सुख था।

कृष्ण और राधिका की बाल-लीला से उनके हृदय में नंद-रानी और वृषभानु-रानी के हृदय का वात्सल्य तथा व्रजवासी ग्वाल-बालों का हर्षोत्साह एक साथ उमड़ पड़ता है। बालक श्रीकृष्ण गो-चारण के लिये जा रहे हैं। गायों को वह नाम ले-लेकर पुकारते हैं, बछड़े हूँकते-हूँकते दौड़े आते हैं। बलराम ग्वाल-बालों के साथ शोर-गुल मचाते, ताली बजाते, हँसते चले जा रहे हैं। इसका गंगाबाई ने कैसा उल्लास-पूर्ण वर्णन किया है—

टेर-टेर बोलत नंदनंदन गाय
बुलाई धूमरि धौरी ;
बछरा छोरि दिए खरिकन तें,
हूँक-हूँक आवत सब दौरी।
मारत कूक सुबल-श्रीदामा
भाजत ग्वाल-लाल के साथ ;
बिलसत, हँसत, देत कर तारी,
तुम लालन जानत सब घात।
माथे मुकुट, काछ पीतांबर,
औ राजत उर पर बनमाल ;

सोभित लकुट, बजत पग नूपुर,
झलक कपोलन, नैन बिसाल।
खेलो गाय ग्वाल गिरधर की
ब्रज-जन सन मन माँझ सिहात;
श्रीविट्ठल गिरिधरन देखि कें
हुलसत नंद-जसोदा मात।

राधा की वर्ष-गाँठ मनाई जा रही है। वृषभानु के यहा चारों ओर हर्ष और उत्साह छा रहा है—

रावल आज कुलाहल माई ;
बाजन बाजत, भवनन गाजत, प्रगटी सबन सुखदाई।
धरत साथिए, बंदनवारें रोपो द्वार सुहाई ;
गावत गीत गली गोकुल की जे जुरि न्योतें आई।
वृषभान के आँगन रानीजू बैठी देत बधाई ;
श्रीविट्ठल गिरिधरन कुँवरि की बरस-गाँठ मन भाई।

और भी—

बजत वृषभान कें बधाई ;
सबन भावती कुँवरि राधिको कीरति नेहइ जाई।
नंदराय औ बड़े ग्वाल सब गृह-गृह न्योत बुलाए ;
सुनतइ आनद भयो सबन के हुलसि-हुलसिकें आए।
तिलक करत, नाचत औ गावत घोष सकल ब्रज-नारी ;
श्रीविट्ठल गिरिधरन संग लै कुँवरि चौक बैठारी।

नीचे-लिखे पद में बाल स्वभाव का बड़ा सुंदर और प्रकृत चित्रण किया गया है। गोवर्धन-पूजन के अवसर पर खूब चहल-पहल रहती है। आनंद की छटा तो चतुर्दिक् छाई ही रहती है, भाँति-भाँति के सुस्वादु व्यंजनों का भी आकर्षण रहता है—

गोवर्धन-पूजन के दिन आए।
बछरा, गाय देव गोधन के
अब कें बहुत बढ़ाए।
कहत लाल जननी बाबा सों
जाय न पूजा करिहैं?
सब पकवान, भात, दधि, ओदन
वाके आगे धरिहैं।
तुम औ भैया गोप - ग्वाल हम
देखेंगे वाहि खात;
श्रीविट्ठल गिरिधरन की बानी
दोऊ हँस - हँस जात।

यह बाल-चातुर्य का अच्छा उदाहरण है। गोवर्धन को भोजन करते देखने का तो बहानामात्र है। असल में तो लालजी अपने ही मजे की सोच रहे हैं। खूब पकवान छकने को मिलेंगे।

लाल की सोभा कहत न आवे।
संध्या - समै खरिक मैं ठाढ़े अपनी गाय दुहावै।
लाल पाग सिर ऊपर सोहै, मोर - चंद छबि पावै॥
मोसों कह्यो सुन जा तू बातें, छत ना बूँद चुचावै*।
लटकत चलत जब ही घर युवतिन बोल सुनावै;
श्रीबिट्ठल गिरिधर लाल छबि जसुमति के जिय भावै।

कृष्ण मौका चूकनेवालों में नहीं हैं। गोरसदान माँगते समय—वर्षा में, बाट में, घाट में—जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिलता है, वह छेड़-छाड़ किए बिना रहते नहीं। और, होली के अवसर को तो बात ही क्या कहनी है। गोपियाँ भी उनके विश्व-विमोहन रूप की माधुरी पर मुग्ध हैं। उनके सामने वे विवश हो जाती हैं, क्योंकि उनका मन तो पहले ही उनके हाथ से चला गया है—

ग्वालिनि, दान हमारो दीजे॥
अति मन मुदित होय ब्रज-सुंदरि
कहत "लाल! हँसि लीजे;
दीजे मन मेरो अब प्यारे,
निरखि - निरखि मुख जीजे।"

---

* बूँदों के न गिरते रहने तक। छत = अछत, अस्ति से। वर्षा-वर्णन के अंतर्गत का पद है।

अति रस गलित होति वह भामिनि—
"मनमाने सो कीजे।"
चाल न सकति, अति ठठकि रहति,
रूप - रासि अव पीजे,
श्रीविट्ठल गिरिधरन लाल सों
नवल - नवल रस भोजे।

मीराबाई के शब्दों में उन्होंने सोच रक्खा है—
"होनी होय, सो होय।
छोड़ दयो कुल की कानो, क्या करिहै कोई।"

कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम की इयत्ता नहीं। पल भर का भी बिछोह उनके लिये असह्य हो जाता है। कृष्ण केवल गो-चारण के लिये वन गए हुए हैं। संध्या-समय गायों के साथ लौट आवेंगे। फिर भी गोपियाँ इतने ही में विरह-व्याकुल हो जाती हैं। वर्षा-ऋतु तो अग्नि में आहुति का काम करती है—

देख री, घन तो ओल्हर आयो।
गरजत - बरसत है चहुँदिसि तें,
दामिनि तेज दिखायो।
कोकिल कूक पढ़ै चहूँ दिसि तें,
पपैया बोल सुनायो,
मन भीज्यो, तन काँपन लाग्यो,
बिरहिन बिरह जगायो।

मेरे पीय बन, हौं भवन अकेली,
यह कहि हियो हिरायो ;
श्रीबिट्ठल गिरिधर वह सुंदरि
अँसुवन अँचरा भिजायो।

बाहर की वर्षा के योग में हृदय का यह वर्षण कितना प्रभावक है ? इन आँसुओं में विरह-वेदना की संपूर्ण तीव्रता छिपी हुई है। इस अश्रु-वर्षण से मीराबाई का 'अश्रु-हार' याद आ जाता है—

मैं विरहिनि बैठी जागूँ, जगत सब रोवै री आली !
विरहिनि बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवे ;
इक विरहिनि हम ऐसी देखी, अँसुवन को माला पोवै।
तारा गिन-गिन रैन विहानी, सुख की घड़ि कब आवै ;
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, मिलके बिछुड़ न जावै।

सचमुच गोपियों को विरह-वेदना की पूरी गहराई तक नारी-हृदय ही पहुँच सकता है।

तन का कंप इस भय का सूचक नहीं कि कृष्ण की वन में क्या दशा हो रही होगी। वह विप्रलंभ की गंभीरता का व्यंजक है, जिसके कारण वर्षा मन तक को भिगो देने की शक्ति पा जाती है। इतना होने पर भी अंत में कृष्ण गोपियों को प्रत्यक्षतः सदा के लिये छोड़कर मथुरा चले गए। गोपियों के विरह की गंभीरता का अंदाजा कौन लगावेगा ? कौन लगा सकता है ? इस विरह

ी गुरुता के आगे कृष्ण भी हलके-से लगने लगते हैं। और
दि उद्धव का उद्धत ज्ञान गोपियों के प्रति कृष्ण की भावना के
द्घाटन का कारण न बनता, तो हम संभवतः कृष्ण के प्रति
न्याय कर बैठते। परंतु हम जानते हैं, गोपियों का विरह
जेतना गंभीर है, उसका आलंबन भी उतना ही महान् है।
ृष्ण के मथुरा चले जाने पर यदि गोपियों का कोई अवलंबन
हा होगा, तो अपने प्रति कृष्ण के प्रेम में उनका विश्वास।
स्तुतः जिसने सुर-नर-मुनियों को भी दुर्लभ सामीप्य-सुख उन्हें
दिया हो, वह उन्हें और वे उसे भूल सकती हैं ?

इस महासुख की पराकाष्ठा रास-लीला में दिखाई देती है।
ागाबाई ने रास-लीला का उत्कृष्ट वर्णन किया है—

बिहागरो

वन में रास रच्यो बनवारी ;
यमुना-पुलिन मल्लिका फूली, सरद रैन उजियारी।
मंडन बीच स्याम घन सुन्दर राजत गोप-कुमारी ;
प्रकटत कला अनेक रूप विहि अवसर लाल विहारी।
सीस मुकुट, कुंडल की झलकन, अलक बनी घुँघरारी ;
कंबु-कंठ, ग्रीवा की डोलन, छीन लंक, अलकैं कारी।
धाय-धाय झपटत उर लपटत उरप-तिरप गति न्यारी ;
नृवत हँसत मयूर-मंडली लागत सोभा भारी।

वेणु-नाद-धुनि सुनि सुर-नर-मुनि तन की दसा बिसारी,
श्रीविट्ठल गिरिधरन लाल की बानिक पर बलिहारी।

रास रात्रि के शरच्चद्र की दुग्धोज्ज्वल आभा उनके शब्द शब्द से फूटी पड़ती है। रास-रस की अप्रतिहत बौछार से जगत सिक्त हो जाता है। उसके व्यापक प्रभाव से कोई वस्तु बची नहीं रहती। पशु-पक्षियों से लेकर सुर-नर-मुनि तक उस माधुर्य में डुबकी लगाकर, अपनी सुध-बुध खोकर न्योछावर हो जाते हैं।

सूरदास ने भी रास का बड़ा विलक्षण प्रभाव चित्रित किया है, जिसकी ओर अपने आप ध्यान चला जाता है—

रास-रस मुरली ही ते जान्यो;
स्याम-अधर पर बैठि नाद कियो, मारग चंद्र हिरान्यो।
धरनि जीव जल-थल के मोहे, नभमंडल सुर थाके,
तृन द्रुम सलिल पवन गति भूले, स्रवन सब्द पन्यो जाके।
बच्यो नहीं पाताल रसातल कितिक-उदय लौं भान,
नारद सारद सिव यह भासत कछु तन रह्यो न सयान।
यह अपार रस-रास उपायो, सुन्यो न देख्यो नैन;
नारायन धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैन।
कहत रमा सों सुनि री प्यारी, विहरत हैं बन स्याम;
सूर कहाँ हमको वैसो सुख, जो विलसति ब्रज-बाम।

लक्ष्मीनारायण भी जिस सुख के लिये लालायित रहते हैं

उसे गोपियों को देकर अब कृष्ण के पास रह क्या गया था, जिसे देकर वह गोपियों को उससे अधिक सुख दे सकते। इस महासुख की खुमारी में कितने ही जीवन आसानी से बिताए जा सकते हैं।

गंगाबाई की कविता पर अष्टछाप के कवियों का *प्रभाव स्पष्ट* है। नंददास को छोड़कर अष्टछाप ही के क्या, वल्लभ-संप्रदाय के प्रायः सभी कवियों की एक ही सी काव्य-शैली है। उन सबमें सूरदास की कविता का अधिक प्रचार हुआ है, इसलिये गंगाबाई के संबंध,मे उन्हीं की ओर लोगों का ध्यान जायगा। यद्यपि अँगरेज़ी-कहावत के अनुसार तुलनाएँ सदा अप्रिय हुआ करती हैं, फिर भी नवीन कवियों के महत्त्व-निर्णय के लिये उनके दर्जे के प्रख्यात कवियों की बगल में उन्हें खड़ा करना ही पड़ता है। लीला काव्य के लिये सूर आदर्श हैं। इसमें संदेह नहीं कि सूरदास और गंगाबाई की काव्य शैली में बहुत साम्य है। विषय की एकता से भाव और रीति की समता का होना स्वाभाविक है। किंतु भाव-साम्य के उदाहरणों से लेख का कलेवर बढ़ाना मुझे अभीष्ट नहीं। सूरदास के चुने-चुने पदों का समकक्ष साहित्य-जगत् में ढूढ़े मिलना कठिन है। गंगाबाई भी सूर की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकतीं। परंतु गंगाबाई का काव्य उच्चतम श्रेणी का न होने पर भी साधु-काव्य है। ऊपर से दूसरी श्रेणी के कवियों में से अग्रगण्यों के साथ उनका स्थान है। उनकी भाषा

प्रायः प्रांजल और व्यवस्थित है। प्रायः इसलिये कहा कि "हम अपने घर जाईं"—जैसा प्रयोग भी उनकी कविता में पाया जाता है, जो ब्रजभाषा के व्याकरण के अनुसार उचित नहीं कहा जा सकता। उनका काव्य अत्यंत प्रसन्न है। प्रसाद-गुण उनकी निजी विशेषता है। उनका काव्य समझने के लिये किसी प्रकार का ऊहापोह नहीं करना पड़ता। उनकी भाषा सरल, भाव सरल और अभिव्यंजना सीधी है।

काव्याकाश की इस शुभ्र गंगा की मैं वंदना करता हूँ। मंदाकिनी से उसका भागीरथी बनना अभी शेष है, जिससे सब उसकी पवित्रता में नहाने का आनंद उठा सकें*।

---

* सन् १९०६-८ की खोज-रिपोर्ट (का० ना० प्र० सभा) में सं० ३३ पर गंगा नामक एक बुन्देलखंडी स्त्री का नाम आया है, जिसके एक संग्रह-ग्रंथ 'विष्णु-पद' का उस रिपोर्ट के परिशिष्ट में परिचय दिया गया है। संभवतः वह यही गंगा हैं, जो गलती से बुन्देलखंडी मान ली गई जान पड़ती हैं। प्रथम त्रैवार्षिक रिपोर्ट में इनके सुदामा-चरित्र-नामक एक दूसरे ग्रंथ का भी उल्लेख है।

हिन्दुत्व का उन्नायक नानक

जब लंदन में भारत की प्रत्येक जाति के नामधारी प्रतिनिधि अपनी अपनी जाति को अन्य जातियों से बिल्कुल अलग स्थिति पर जोर दे रहे हैं और इस भेद-भाव को एक चिरंतन तथ्य बना डालने की चिन्ता मे हैं, उस समय इस तथ्य को प्रकट करने में बड़ा आनन्द होता है कि हमारे साहित्य की प्रगति सदा से सब जातियों और सब धर्मों के एकीकरण की प्रक्रिया की ओर संकेत करती आरही है। हमारे साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिंदू और मुसलमान तथा हिन्दू-मुसलमान और ईसाई समय समय पर एक ही विचार धारा में बहे हैं। निर्गुण-पथ में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर धार्मिक कट्टरता और जातीय विद्वेष के प्रतिकूल घोर युद्ध किया था। जब ईसाई धर्म ने भी भारत में प्रवेश कर लिया तो धामी पंथ के प्रवर्तक प्राणनाथ ने हिंदू और मुसलमानों के साथ साथ ईसाइयों को भी प्रेम के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया था। वस्तुतः आज जो लोग भारत के सिर पर सवार होकर समाज-विध्वंसक भेद-भावों की फांसी से उसका गला घोंट देना चाहते हैं, वे देश और साहित्य दोनों के इतिहास को भूल रहे हैं। उन्हें इस बात का

---

* लाला भगवानदीन विद्यालय के वार्षिकोत्सव में पठित।

ध्यान नहीं है कि वे निम्न कोटि के क्षणिक स्वार्थ में पड़कर उसी आधार को गिरा देना चाहते हैं जिसके ऊपर उनकी अविचल स्थिति है। साहित्य के इतिहास के सारे क्षेत्र मे आप को साथ लेकर विचरण करना, आज मेरा उद्देश्य नहीं है। मैं केवल उस प्रयत्न का निराकरण कर देना चाहता हूँ जो हिन्दुओं और सिखों के बीच में भेद की खाई खनने के लिये लगभग आधी शताब्दी से किया जारहा है। हिन्दी के जिन सन्त कवियों ने सब भेद भावों को मिटाने के लिए अपने जीवन पर्यंत अथक परिश्रम किया हो उनके नाम पर भेदभाव का प्रचार करने का प्रयत्न करना साहस का काम है और यही बहुत वर्षों से कुछ लेखक कर रहे हैं।

आधी शताब्दी से पहले की बात है कि भारत-सचिव ने एक जर्मन विद्वान् डा० ट्रम्प से गुरु ग्रन्थ साहब का अनुवाद कराना आरम्भ किया था। उसने उस अनुवाद की भूमिका में लिख दिया कि नानक हर एक बात मे सच्चा हिन्दू था। यह एक बिल्कुल सच्ची बात थी। किन्तु अंगरेज विद्वानों को यह सत्य कुछ कटु मालूम हुआ और उन्होंने ट्रम्प के इस कथन का विरोध करना आरम्भ कर दिया। डिक्शनरी आव इस्लाम में मिस्टर फ्रेडरिक पिकट ने नानक को मुसलमान बताया। कारण इसके उन्होंने यह बतलाये कि नानक एकेश्वर वादी थे; सूफियों के से कपड़े पहनते थे और कई सूफी उनको गुरु तुल्य समझते थे

परन्तु मिस्टर पिंकट इस बात को भूलते हैं कि सन्तों में मूल वस्तु उनके विचार हैं, उनके परिधान नहीं; वस्त्रों को वे कुछ भी प्रधानता नहीं देते। धर्म भेद की अवास्तविकता को जानने वाले साधुओं का, चाहे वे किसी जाति व धर्म के क्यों न हों, अन्य धर्मावलम्बी सन्तों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन करना कोई असाधारण बात नहीं है। एकेश्वरवादी होने के कारण भी नानक मुसलमान नहीं कहे जा सकते। और इस बात को तो सात समुद्र पार स्पेन निवासी मुसलमान विद्वान काज़ी साइद (मृत्यु १०७० ई०) भी स्वीकार करते हैं कि हिन्दुओं का "ईश्वरीयज्ञान ईश्वर की एकता के सिद्धांत से पवित्र है" †।

मिस्टर पिंकट के ही समान मिस्टर मैक्स आर्थर मेकौलिफ ने भी इस बात को पसंद नहीं किया कि सिख लोग अपने को हिन्दू समझें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुरु ग्रन्थ साहब का अंगरेज़ी में अनुवाद करके मिस्टर मेकालिफ ने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है। परन्तु जब हम देखते हैं कि उनके प्रयत्न के मूल में प्रधान भावना हिन्दू और सिखों में भेद भाव बनाये रखने की है, तब उनके कार्य का उतना मूल्य नहीं रह जाता जितना कि अन्यथा होता। इस भावना से वे यहां तक प्रभावित हुए हैं कि इस अनुवाद की प्रस्तावना में उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि सिखनवयुवक अपने आपको

---

† तबकातुल् उमम (बैरुत), पृष्ठ ११

हिंदू कहने लगे हैं। क्यों उनको यह बात बुरी लगती थी, यह बतलाने के लिये बिना अपनी ओर से टिप्पणी जोड़े,हुए मैं उन्हीं के कुछ वाक्य ज्यो के त्यों यहाँ पर उद्धृत कर देता हूँ :—

"A movement to declare the Sikhs Hindus in direct opposition to the teachings of the Gurus is widespread and of long duration. I have only quite recently met in Lahore youngmen claiming to be descendants of the Gurus who told me that they were Hindus and that they could not read the characters in which the sacred books of the Sikhs were written. Whether the object of their tutors and advisors was or was not to make them disloyal, such youths are ignorant of the Sikh religion and of its prophecies in favour of the English and contract exclusive social customs and prejudices to the extent of calling us Malechhas or persons of impure desires and inspiring disgust for the customs and habits of Christians"

सिखों के अपने आपको हिंदू समझने से उनकी राजभक्ति कैसे सदेह में पड़ जाती है, यह बात मिस्टर मेकौलिफ की सो ही मनोवृत्ति वाला आदमी समझ सकता है। पर इसमे सदेह नहीं कि ईसाइयों के खान पान अथवा आचार व्यवहार के प्रति यदि हिंदुओं में सचमुच कोई अरुचि है तो उसका निराकरण सिखो

को हिंदुओं से अलग रखने से न होगा बल्कि उनमे घनिष्ट-संसर्ग बढ़ाने से, जिससे मिस्टर मेकौलिफ अकारण डरते थे। इसी घनिष्ट संसर्ग के रहने से सिखों के उदार-भाव हिंदुओं की कट्टरता को दूर करने में समर्थ होंगे। परंतु सिखों और हिंदुओं को एक दूसरे से अलग रखना नानक के उपदेशों को हिंदुओं के हृदय तक पहुँचने से रोकने के प्रयत्न के बराबर है। नानक के उपदेश हिंदुओं पर उसी दशा मे पूरा प्रभाव डाल सकते हैं जब कि हिंदू समझें कि वे उन्हीं के एक संत-महात्मा के उपदेश हैं।

और इसमें कोई संदेह भी नहीं कि नानक वस्तुतः हिन्दू थे। मिस्टर मेकौलिफ चाहे जिस उद्देश से सिखों का अपने आपको हिन्दू कहना न सह सकें परंतु यह बात निश्चित है कि नानक ने धर्म की रक्षा के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया था और वह उस धर्म की रक्षा के लिए जिसको धर्म के अतिरिक्त कोई संज्ञा देना अनुचित है किंतु जिसे आजकल लोग हिंदू धर्म कह कर अभिहित करते हैं। जिस समय नानक उत्पन्न हुए थे उस समय हिंदुओं मे धर्म की अवस्था बहुत कुछ हीन हो चली थी। अपने आपको धर्मनिष्ठ समझने वाले लोग उसके बिल्कुल विपरीत अनार्य कृत्यों को करने लगे थे। मूर्तिपूजा और अवतारवाद के मूल में उनको जन्म देनेवाली जो रहस्य भावना थी वह लोप हो गयी थी और हिन्दू पत्थरों और मनुष्यों को साधारण अर्थ

मे देवता या ईश्वर समझने लगे थे। इस्लाम ने अभी अभी फिर से, नानक के ही जीवनकाल में विदेशी आक्रमणकारी का स्थान ग्रहण किया था। बाबर हिंदुस्थान पर चढ़ाई कर रहा था। देश में न धार्मिक जीवन अच्छा था और न राजनैतिक। उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें यह देख कर बड़ा खेद हुआ कि—

> सासतु बेद न माने कोई। आपो आपै पूजा होई॥
> तुरुक मंत्र कनि ह्रदै समाई। लोक मुहावहि छोड़ी खाई॥
> चौका देके सुच्चा होई। ऐसा हिन्दू वेखहु कोई॥

—आदि ग्रन्थ (तरन तारन संस्करण) पृ० ३१८

[शास्त्र और वेद कोई नहीं मानता, सब अपनी अपनी पूजा कराते हैं। तुरुकों (मुसलमानों) का मत उनके कानों और हृदय मे समा रहा है। लोगों को चुगली करके उन्हें पकड़ाते हैं और उसीसे अपना गुजारा चलाते हैं। और चौका देकर पवित्र होने का दंभ करते हैं। देखो, यह हिन्दुओं की दशा है।

एक हिन्दू चुंगी वाले से उन्होंने कहा था—

> गऊ बिरामण का कर लावहु, गोबर तरणु न जाई।
> धोती टीका तै जप माली धानु मलेच्छा खाई॥
> अंतरि पूजा, पढ़हि कतेबा संजमि तुरकां भाई।
> छोडिले पखंडा, नामि लइए जाहि तरंदा॥

—आदि ग्रन्थ, पृ० २५५

[गो-ब्राह्मण का तुम कर लेते हो। गोबर तुम्हें नहीं तार सकता। धोती टीका लगाये रहते हो किंतु अन्न खाते हो म्लेच्छों का। हे भाई तुम भीतर तो पूजा-पाठ करते हो किन्तु तुरुकों के सामने कुरान पढ़ते हो। ऐसा पाखंड छोड़ दो, भगवान का नाम लो जिससे तुम्हारा तरण होगा।]

यद्यपि वस्तुतः देखा जाय तो किसी भी महान् आत्मा को हम संकुचित अर्थ में एक जाति या धर्म का नहीं बतला सकते। वे तो समस्त संसार के कल्याण के लिए संसार में आते हैं। गुरु नानक भी ऐसे ही महात्मा थे। परन्तु महात्मा लोग भी सांसारिक वास्तविकताओं के लिए आँखें बन्द नहीं कर सकते। आजकल सिख धर्म ने चाहे जो रूप ग्रहण कर लिया हो, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि नानक धर्म के शत्रु होकर नहीं, उसके उन्नायक और सुधारक होकर अवतरित हुए थे। सुधार के वे ही प्रयत्न संगत और स्तुत्य कहे जा सकते हैं जो भीतर भीतर से सुधार के लिये अग्रसर हों। बिल्कुल विध्वंस की नीति को लेकर चलना समाज के लिए कभी भी कल्याणकारी नहीं होता, इस बात को नानक जानते थे। इसीलिए उन्होंने हिन्दू धर्म के सुधार की चेष्टा की, उसके नाश की नहीं। उन्होंने मूर्ति-पूजा, अवतार-वाद और जाति-पाँति का खंडन किया परन्तु कभी किसी को हिन्दू धर्म छोड़ने को नहीं कहा ; और न स्वतः ही कभी हिन्दू धर्म को छोड़ा। हिन्दुओं के प्रणव मंत्र ॐ को उन्होंने आदर

पूर्वक अपनी वाणी में स्थान दिया। सिखों के सब मंत्र ॐ से आरम्भ होते हैं। त्रिमूर्ति को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

एका माई जुगत बियाई, तिन चेले परवाण।
एक संसारी, एक भंडारी, एक लाए दीवान॥—जपजी
आदि ग्रन्थ, पृ० २

[एक माता (माया) योग्य रूप से प्रसूती हुई उसके तीन चतुर पुत्र हुए। एक संसारी (गृहस्थ=संसार को पैदा करने वाला ब्रह्मा) हुआ। एक भंडारी (भरण-पोषण करने वाला= विष्णु) हुआ और एक दीवाना (नष्ट करनेवाला = महेश) हुआ।]

त्रिमूर्ति को माया का पुत्र कहना, सर्वथा वेदांत सम्मत है। वस्तुतः नानक ने जो कुछ कहा है, वह उच्च से उच्च आर्य-सिद्धांतों के अनुकूल है। वेदों में 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' से जो दार्शनिक चिंतन आर्य ऋषियों ने आरंभ किया था, उसका पूर्ण विकास वेदांत में हुआ, और इसी वेदांत का सार नानक ने अपनी वाणी में करके—

१ ॐ सतिनामु करता पुरख निरभौ निरवैर अकाल मूरति अजूनिसैभं

की भक्ती का प्रसार किया। जो लोग मिस्टर पिंकट की तरह नानक को मुसलमान समझते हैं। वे उसी प्रकार भूल में हैं जैसे वे लोग जो राजा राममोहनराय को ईसाई समझते हैं। परन्तु

वास्तव में न राजा राममोहनराय ईसाई थे और न नानक मुसलमान। जिस प्रकार आधुनिक युग में स्वामी दयानंद और राजा राममोहनराय ने धर्म की बाहरी प्रभावों से रक्षा की, उसी प्रकार नानक ने भी मध्ययुग में की थी। गुरु नानक यह नहीं चाहते थे कि लोग एक प्रपंच से हट कर दूसरे प्रपंच में जा पड़ें। आध्यात्मिक प्रेरणा के बिना प्रत्येक धर्म प्रपंच और पाखंड है। जो बातें हिन्दू धर्म को सार्वभौम धर्म के स्थान से नीचे गिरा कर उससे उसके अनुयायियों की श्रद्धा को हटा रही थीं, उनके विरुद्ध नानक ने घोर युद्ध किया और एक बार फिर शुद्ध धर्म का प्रचार हुआ। वह *सार्वभौम धर्म नानक जिसके प्रतिनिधि हैं, किसी धर्म का* विरोधी नहीं क्योंकि सभी धर्मों को उसके अंतर्गत स्थान है, वह धर्म धर्म के भेद को नहीं मानता। इस्लाम से यदि कहीं उनका विरोध प्रकट होता है तो वह इसलिये नहीं कि वे उस धर्म के विरोधी थे, बल्कि इसलिए कि इस्लाम के नाम पर आक्रमणकारी इस भूमि को पददलित कर रहे थे। आध्यात्मिक प्रवृत्ति का साधु नानक इस बात से बड़ा दुःखी हुआ। इसीलिये उन्हें खून के सोहिले* गाने पड़े। अपने शिष्य लालसिंह को संबोधन करते हुए उन्होंने कहा था—

खून के सोहिले गावीअहि नानक रतु का कुगू पाइ वे लालो।

आदि ग्रन्थ पृ० ३८९.

---

* सोहिले सिखों में शोक के अवसर पर गाये जाते हैं।

[इस रक्त-पात के लिये नानक शोक के गीत गाता है हे लालो प्रेम के आधार को प्राप्त कर ।]

देश की गिरी दशा देखकर वे तिलमिला उठते थे। अत्याचार को न सह सकनेवाला उनका रक्त जब उनकी नसों में जोश खा रहा था, तब ऐसे ही समय में उन्होंने एक बार भविष्यवाणी की थी—

काया कपड़ टुक टुक होसी हिंदुस्तान समालसि बोला।
आवनि अठतरै जानि सतानवै होरुभी उठसि मरदका चेला॥
सच की वाणीं नानक आखै, सचु सुणाइसि सच की वेला॥

आदि ग्रन्थ पृ० ३८९.

[चाहे काया रूपी वस्त्र टुकड़े टुकड़े हो जायँ फिर भी समय आयगा जब हिन्दुस्तान अपना बोल सँभालेगा। (फिर कोई सन दिये हैं जो समझ में नहीं आते) और भी मर्द के बच्चे पैदा होंगे। नानक सत्य की वाणी बोलता है, सत्य की वेला में वह सत्य ही सुनाता है।]

सिखों में समय समय पर जो देशप्रेम की अबाध धारा प्रवाहित होती रही है, उसका बीज गुरु नानक ही से आरंभ हो जाता है। परन्तु हिन्दुस्तानी प्रतिनिधियों की लंदन की कारवाई देखने से मालूम होता है कि हिन्दुस्तान ने अभी अपना बोल सँभालना सीख नहीं पाया है अन्यथा वे संकीर्ण जातीयता को

लेकर दुनियाँ के आगे भारत को इतना लज्जित न करते। आज जो 'वाह गुरु की फतह' सुनकर किसी भी हिंदी साहित्य-प्रेमी को उमंग से उत्फुल्ल हो जाना चाहिए वह केवल इसलिए नहीं कि वे एक पंथ के प्रवर्तक थे बल्कि इसलिए कि उन्होंने कट्टरता और संकीर्णता के विरुद्ध अपनी वाणी को अरुंतुद कर देश मे सहिष्णुता और एकता का मार्ग प्रस्तुत किया था। परतु वह एकता जिसे उन्होंने लक्ष्य में रखा था वह एकता नहीं थी जो दो पक्षों में से एक का नाश करके प्राप्त होती है बल्कि वह एकता थी जो सब पक्षों के पूर्ण विकास पा जाने पर स्वतः प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार नानक ने हिन्दुत्व मे से कट्टरता और अंध-विश्वासों को उन्मूलित करने का प्रयत्न किया था उसी प्रकार यदि समस्त धर्मों के संत महात्मागण अपने अपने धर्मों से उन्हें उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करें तो सभी धर्मों को वह रूप प्राप्त हो जाय जो किसी सार्वभौम धर्म का होना चाहिए और धर्मभेद से उठे हुए सब झगड़े-बखेड़े सहज ही नाश हो जायँ।

पद्मावत की कहानी और जायसी का अध्यात्मवाद

(द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ से उद्धृत)

'पद्मावत' की रचना मलिक मुहम्मद जायसी ने केवल कहानी की रोचकता के आग्रह से नहीं की। लोगों की कुतूहल-वृत्ति के तुष्टि की शायद उन्हें उतनी चिंता न होती। मनुष्य की एक कमजोरी समझकर उस पर वे दयापूर्ण दृष्टि से हँस देते। परंतु मनुष्य की इसी कमजोरी में उन्होंने उसकी सामर्थ्य का साधन देखा। उन्हें कुतूहल-वृत्ति के द्वारा जिज्ञासा-वृत्ति के उदय और उसके परिशांति की संभावना दिखाई दी। 'पद्मावत' की कहानी लिखने में उनका उद्देश्य उनकी इस आत्म तोपोक्ति से प्रकट हो जाता है—"कहा मुहम्मद प्रेमकहानी, सुनि सो ज्ञानी भये धियानी।[1]" जिस गहन पारमात्मिक अनुभूति को वे अपने अंतस्तल की गहराई में निर्धन की निधि के समान छिपाए हुए थे उसी के बे-रोक वितरण के लिये इस रोचक कहानी से उन्होंने अवसर ढूंढ़ निकालना चाहा—"ता-तप साधहु एक पथ लागे, करहु सेव दिन रात सभागे; ओहि मन लावहु रहै न रूठा, छोड़हु झगरा यह जग झूठा।[2]" ऐसा कहकर जिस अव्यक्त तत्त्व का

१ अखरावट, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३६६

२ जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३५०

उपदेश उन्होंने 'अखरावट' में प्रकट रूप से किया है उसी को उन्होंने 'पद्मावत' में एक रोचक और हृदयग्राही रूप में अन्योक्ति द्वारा कहने का प्रयत्न किया है। अपने इस उद्देश्य को उन्होंने छिपाया नहीं है। विनयशील जायसी ने--जिनकी विनयशीलता के कारण प्रत्येक व्यक्ति का मस्तक उनके सामने आदर से झुक जाता है--पंडितों के मुँह से इस प्रकार अपनी कहानी को अन्योक्ति कहला दिया है--

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जे तर उपराहीं।
ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन छितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघवदूत सोइ सैतानू।
माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥

—जा॰ ग्रं॰, पृ॰ ३३२

जायसी का यह प्रयत्न कितना सयुक्तिक और स्तुत्य है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। टीकाकारों उपदेशकों द्वारा जो बात नहीं सुझाई जा सकती, वह कहानी द्वारा आसानी से हृदय में बिठा दी जा सकती है; क्योंकि कहानी हृदय पर असर करती है और उपदेश मस्तिष्क पर। खोपड़ी की सख्त हड्डियों से घिरे हुए मस्तिष्क पर कोई चिन्ह आसानी से अंकित नहीं किया जा सकता, किंतु खून का कतरा हृदय चाहे जिस रूप में ढाल दिया जा सकता है। सूक्ष्म चिंतन हर किसी का काम नहीं; पर भावुकता की लहरों के साथ बह चलना मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसी लिये मौलाना रूमी ने भी आध्यात्मिक प्रेम के प्रदर्शन के लिये अपनी मसनवी में कहानी का सहारा लिया है; और इसी से श्रीमद्भागवत आदि धार्मिक पुराणों की सृष्टि हुई है। परंतु सभी प्रयत्न सफल नहीं हो जाते। जायसी भी अपनी कहानी को अन्योक्ति का पूर्ण रूप देने में समर्थ हुए हों, ऐसी बात नहीं। अन्योक्ति (Allegory) का सूत्र कहानी को एक से दूसरे सिरे तक वेधता नहीं च ग गया है। आध्यात्मिक और लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एकरस नहीं दिखाई देते। यह बात ठीक है कि इतनी लंबी-चौड़ी कहानी में सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरणों में भी, इस बात का निर्वाह नहीं हो सकता था। अन्योक्ति में बहुत सूक्ष्म विवरणों का ध्यान न रखना अविधेय भी नहीं है। परंतु यहाँ सूक्ष्म विवरणों का ही सवाल नहीं है।

कहानी के अधिकांश को पढ़ता हुआ पाठक इस बात को भूल जाता है कि कहानी का कोई दूसरा लक्ष्य भी है। अतएव बड़ी दूर जाकर यदि उसे इस बात की सूचना मिलती भी है तो आकस्मिक आघात के रूप में, जिससे कथा के प्रवाह में बहता हुआ पाठक झुँझला उठता है और ऐसे बाधक प्रसंगों से बचकर आगे बढ़ जाना चाहता है। यह भी बात नहीं कि जहाँ-जहाँ आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत हो वहाँ-वहाँ लौकिक पक्ष में भी जायसी की उक्ति ठीक-ठीक घट जाती हो। आध्यात्मिक और लौकिक, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, इन दोनों में समत्व बनाए रखना जायसी के बूते का काम नहीं। आध्यात्मिक पक्ष को वे इतनी दूर ले पहुँचते हैं कि लौकिक पक्ष का उन्हें कुछ ध्यान रह ही नहीं जाता। ऐसी उक्तियों को लौकिक पक्ष में भी घटाना गहरी खींचातानी से संभव हो, तो हो। "जौ लहि जिऔं राति दिन, सवरौं ओहि कर नाँव: मुख राता तन हरिअर, दुहूँ जगत लेई जावँ।"[१] —रत्नसेन द्वारा कही गई पद्मावती (परमात्मा) के प्रति तोते की इस कृतज्ञतापूर्ण उक्ति के समान दोनों पक्षों में पूर्ण रूप से घट जानेवाली उक्तियाँ ग्रंथ में बहुत नहीं हैं। अधिकांश उक्तियाँ ऐसी ही हैं जिनमें पहले तो लौकिक पक्ष का भी कुछ संसर्ग रहता है, परंतु आगे चलकर उसका साथ

---

१ जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ४१—ओहि = परमात्मा, पद्मावती। राता = यश (सुर्खरू), लाल। हरिअर = प्रसन्न, हरा।

छूटने लगता है। उदाहरण के लिये इस उक्ति को लीजिए—

मिलतहु महँ जनु अहौ निरारे। तुमसौं अहै अँदेस पियारे।
मैं जानेउ तुम्ह मोही माहाँ। देखौं ताकि तौ हौ सब पाहाँ॥
का रानी, का चेरी कोई। जा कहँ मया करहु भल सोई॥
तुम्ह सौं कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिले आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज॥

जा० ग्रं०, पृ० ४०

यह तोते के साथ नागमती के व्यवहार से रुष्ट राजा के मनाने का रानी की ओर से प्रयत्न है। वररुचि-जैसे विद्वान् और भोज–जैसे गुणज्ञ राजा भी परमात्मा का पता लगाते-लगाते हार गए, यह तो ठोक है; पर लौकिक पक्ष में इसका अर्थ कैसे बैठेगा ? पति के संबंध में वररुचि और भोज का मेल कैसे बैठाया जायगा ? बहुत खींचतान करके जो अर्थ लगाया जायगा, वह खींचतान होगी, अर्थ कदापि नहीं। कहानी के प्रसंग को ऐसी अवहेलना का परिणाम यह होता है कि जायसी की ये रहस्यमयी उक्तियाँ प्रबंध के बीच-बीच में बे-मेल पचचड़ की तरह लगती हैं। इसके अतिरिक्त प्रतीक की एकरूपता का भी जायसी ने एकरस निर्वाह नहीं किया है। एक वस्तु को एक ही वस्तु का प्रतीक नहीं माना है। कहीं पर पद्मावती को चिद्रूप ब्रह्म माना है, कहीं रत्नसेन को। ऊपर दी हुई नागमती की उक्ति में रत्नसेन परमात्मा माना गया है और उसके लिये भेजे हुए पद्मावती के

इस सँदेसे में भी—"आवहु स्वामि सुलच्छना जीउ बसै तुम्ह नाँव, नैनहि भीतर पंथ है हिरदय भीतर ठाँव।" (जा० ग्रं०, पृ० १०९) पर निम्नलिखित अवतरणों में पद्मावती ही परमात्मा मानी गई है—

(१) दिष्टिबान तस मारेहु घायल भा तेहि ठाँव।
दूसरि बात न बोलै लेइ पदमावति नाँव॥
रोंव रोंव वै बान जो फूटे।
सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे—
सूरज बूड़ि उठा होइ ताता।
औ मजीठ टेसू बन राता॥

जा० ग्रं०, पृ० १०६

(२) हौं रानी पद्मावती सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं मैं तेहि के प्रथम करै अपनास[2]॥

नखशिख-खंड में भी, जिसका उद्देश्य रत्नसेन के हृदय में पद्मावती के प्रति प्रेम उत्पन्न करना है, पद्मावती ही परमात्मा का प्रतीक है। सचमुच अगर देखा जाय तो कहानी में आदि से अंत तक किसी एक प्रतीक अथवा रीति की रक्षा नहीं की गई है। और, जहाँ कहीं, चाहे जिस रूप जरा भी आध्यात्मिक संकेत के उपयुक्त मिला है, कवि ने उसे हाथ से जाने नहीं दिया है। इससे यद्यपि आध्यात्मिक व्यंजना है और

२ जा० ग्रं०, पृ० १०८

कवि को अधिक अवसर मिल गए हैं तथापि प्रतीक की एकरूपता के अभाव से अन्योक्ति के सार्वात्रक अधिकार में बाधा पड़ गई है। हाँ, यदि कहानी को समाप्त कर, अंत में उसके प्रमुख अंगों को ध्यान में रखकर, एक बार सिंहावलोकन करें तो अवश्य अन्योक्ति की कुछ सार्थकता दिखलाई देती है। जायसी ने अंत में अपनी कहानी का जो व्यंग्यार्थ खोला है वह तभी साधार माना जा सकता है जब सारी कहानी के मस्तिष्क पर पड़नेवाले केवल सामान्य संस्कार का विचार किया जाय। चित्तौड़-रूपी तन का मन (जीव) राजा है, जो ज दुव्यवहार-रूप नागमती की अवहेलना कर गुरु-सूए के दिखाए मार्गका अनुसरण करता हुआ बोध-(ज्ञान)-स्वरूप परब्रह्म-पद्मावती का सायुज्य प्राप्त करता है। शैतान-राघवचेतन और माया-स्वरूप सुलतान अनेक प्रयत्न करके भी उसको इस सुख से वंचित नहीं रख सकते [1]। कहा जा सकता है कि असल मे जहाँ समष्टि-रूप से पूरा व्यापार लेकर प्रस्तुत को छोड़ अप्रस्तुत-द्वारा उसका वर्णन किया जाय वहीं अन्योक्ति होती है, ऐसी दशा में सूक्ष्म विचरणों की ओर ध्यान जा ही नहीं सकता। यदि कहानी में आद्यंत प्रतीकों के एकरूपता की रक्षा की जाती तो यह कथन बहुत कुछ सारयुक्त होता। परन्तु जायसी के इस अलंकार-विधान के विरुद्ध यही एक आपत्ति

---

१ देखिए —इस लेख के दूसरे पृष्ठ (३९६) मे जा० ग्रं० के पृ० ३३२ का उद्धारण।

नहीं है। इससे बढ़कर आपत्तिजनक है उसका अनौचित्य। अन्योक्ति में यह अनौचित्य नागमती को 'दुनिया धंधा' मानने से आया है। पद्मावती को प्राप्त करने में राजा के मार्ग में नागमती ने चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न डाली हों—पद्मावती से यह कितनी ही कम सुंदरी क्यों न हो, परंतु पद्मावती के सामने उसकी उपमा अवहेलनीय 'जगद्-व्यवहार' से नहीं दी जा सकती। व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता में जितना भेद है—जगद्बोध और चिद्बोध में जो अंतर है, वह नागमति और पद्मावती में कदापि नहीं। यदि नागमती केवल नागमति होती—उसके विषय में हम कुछ जानते, तो शायद यह बात इतनी न खटकती। परन्तु जायसी की कहानी द्वारा हमें नागमती का जो रूप देखना नसीब हुआ है उसे देखते हुए नागमती को 'दुनिया-धंधा' कहना किसी शुष्क सिद्धांतवादी के लिये—अथवा जिसे केवल अन्योक्ति ही बैठाने का खयाल हो उसके लिये—भले ही आसान हो; किंतु जिस हृदयवान् को सहृदयता का ज़रा भी विचार होगा उसके लिये ऐसा कहना हृदय को दो-टूक कर देने के समान होगा। आश्चर्य इसी बात का है कि अन्योक्ति के फेर में पड़कर जायसी के सदृश्य सहृदय व्यक्ति का इस ओर ध्यान नहीं गया। जिस नागमति के हृदयद्रावक विरह-व्यथा के दर्द-भरे वर्णन के ही कारण हम जायसी के अपने लिये कथित 'जेहि के बोल विरह के छाया' को चरितार्थ हुआ समझते हैं

उसके दृढ़ प्रेम को यदि सतत-परिवर्तन-शील जगद्व्यवहार के समान अस्थिर मानें तो परमात्मा के विरह मे दीवाना होने वाले—भारतीय स्त्रियों से एकांत हृदय-समर्पण का पाठ पढ़नेवाले जायसी सरीखे भक्त महात्माओं का आदर्श ही तिरस्कृत हो जाता है। हिंदू स्त्रियों की जिस आदर्श पतिभक्ति ने 'खुसरो' से कहलाया था—"खुसरवा दर इश्कबाजी कमज हिंदू जन मबाश, कज बराए मुर्दा सोजद जिंदा-जाने खेश रा—[हे खुसरो ! प्रेमपथ में हिंदू स्त्री से मत पिछड़, मुर्दा पति के साथ उस अपनी जिंदा-जान को जला देनेवाली की बराबरी कर]" क्या नागमती उससे जरा भी पिछड़ी है ? फिर क्यों उसका तिरस्कार किया जाय ? लोकसंग्रह की भावनाओं पर इस तिरस्कार के कारण जो व्याघात पहुँचता है, वह बहुत भयकर है। रत्नसेन का सूए के मुँह से पद्मावती की सुदरता का वर्णन सुनकर नागमती की अवहेलना कर पद्मावती के लिये बावला हो जाना कोई ऐसा काम नहीं जिसका सादृश्य आध्यात्मिक उन्नति के प्रयास से किया जाय। योग से उसकी उपमा देने से न तो योग का ही महत्त्व बढ़ सकता है और न उस कार्य को औचित्य ही प्राप्त हो सकता है। 'पद्मावत' से ही उस दृश्य को एक बार आँखों के सामने ले आने से वस्तुस्थिति और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगी। सूए के मुँह से यह सुनते ही कि "पद्मावति राजा कै बारी, पदुमगंध ससि बिधि

औवारी[1]" जैसे मछली के लिये समुद्र में किलकिला पक्षी मँड़राता है वैसे ही राजा पद्मावती के लिये कामुक हो जाता है—"सुनि समुद्र भा चख किलकिला, कँवलहि चहौं भँवर होइ मिला।[2]" उसे प्राप्त करने की इच्छा उसे पहले हो जाती है, वह ब्याही है या क्वाँरी– सो वह पीछे पूछता है। उसके कुल और देश का वर्णन सुनकर तो उसे तीन लोक चौदह भुवन सूझने लग जाते हैं—"तीनि लोक चौदह खँड, सबै परे मोहि सूझि, प्रेम छाड़ि नहि लोन किछु, जो देखा मन बूझि।" उसके नखशिख का वर्णन सुनकर तो वह मूर्च्छित ही हो जाता है, और जब उसकी मूर्च्छा टूटती है तब वह राज-पाट छोड़कर जोगी हो जाता है। परंतु क्या उसका 'जोग' ईश्वरोन्मुख प्रेम-पथ में कौड़ी-काम का है? अपनी प्रेममयी परिणीता स्त्री को छोड़कर दूसरी कुमारी के प्रेम में पागल राजा के मुँह से योग और विरक्ति की निम्नलिखित उक्तियाँ योग और विरक्ति की हँसी उड़ाती हैं।

> जोगिहि काह भोग सौं काजू।
> चहै न धन धरती औ राजू॥
> जूड़ कुरकुटा भूखहि चाहा।
> जोगी तात भात कर काहा॥
>
> (पृष्ठ ६०)

१—जा० ग्रं०, पृ० ४० २—जा० ग्रं०, पृ० ४२

एहि जीवन के आस का, जस सपना पल आधु।
मुहमद जियतहि जे मुए तिन्ह पुरुषन कह साधु॥
(पृष्ठ ६६)

"जौं भल होत राज औ भोगू, गोपिचंद नहिं साधत जोगू"
(पृष्ठ ५९) कहकर अपने कार्य के समर्थन में जब राजा गोपीचंद का दृष्टांत पेश करता है तब ही चाहता है कि इसका विकट उपहास करने के लिये उस समय कोई होता ! इसमें कोई संदेह नहीं कि इस संसार में प्रेम ही सार वस्तु है और उसी के द्वारा मनुष्य कुछ हो सकता है—"मानुस प्रेम भए वैकुंठी, नांहि त काह छार भर मूठी।" (पृ० ७४) किंतु जिस प्रेम से मनुष्य वैकुण्ठी—परमात्मा-तुल्य—हो सकता है वह चंचल भाव नहीं जो रत्नसेन को नागमती से पद्मावती पर अपना मन चलाने के लिये बाध्य करता है, प्रत्युत वह दृढ़ लगन है जो नागमती और पद्मावती के हृदय में रत्नसेन के लिये संचित है, जिसमें चंचलता का नाम नहीं, जो कठिन से कठिन आपत्ति-काल और परीक्षा में बदल जाना नहीं जानता। आगे चलकर तो पद्मावती के संबंध मे राजा रत्नसेन ने भी प्रेम की स्थिरता का परिचय दिया है, पर इससे उसके पिछले दोष का मार्जन नहीं हो सकता, जो रामावतार के उच्चतम सामाजिक आदर्श —एकपत्नीव्रत—को लीप-पोतकर ठीक कर देता है ! अपनी साधारण रूपवती स्त्री को छोड़कर दूसरी सुंदर स्त्रियों की

और लपकनेवालों को यदि यह स्वतंत्रता दे दी जाय कि वे अपने कार्य को योग और विरक्ति समझें तो सामाजिक आदर्श अपने भाग्य को रोने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है! विवाह हो जाने के बाद पद्मावती ने राजा के योगी-वेश पर चुटकी लेते हुए कहा था—"एहि भेख रावन सीय हरी।" (पृ० १७६) यद्यपि यह बात हँसी में कही थी, तथापि कौन कह सकता है कि रत्नसेन का योग उपाहासास्पद नहीं है।

जो लोग यह विचार करते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिये लौकिक आदर्शों की परवा करना आवश्यक नहीं है, वे भी परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझे; यह जगत् भी परमात्मा का ही रूप है, चाहे प्रातिभासिक रूप ही क्यों न हो। हम इस प्रातिभासिक रूप को सत्य-स्वरूप तक, जायसी के मतानुसार प्रतिबिंब को बिंब तक, पहुँचने का साधन–इसके आदर्शों को गिराकर—नहीं बना सकते। परमात्मा के उद्देश्य की पूर्ति जगत् के आदर्शों की रक्षा द्वारा ही हो सकती है; शिव (कल्याण) और अद्वैत सत्तत्त्व (ब्रह्म) में अद्वैत भाव है। 'शांतं शिवमद्वैतम्' (मांडूक्य ७, नृसिंहोत्तर-तापनी १)। 'गौड' और 'गुड' अगल-बगल चलते हैं। भगवद्गीता ने यह भाव बड़ी खूबी के साथ प्रकट किया है। गीता के अनुसार ब्रह्म का 'ॐ' तत्' 'सत्' त्रिविध निर्देश है—"ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः, ब्राह्मणस्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।"

(१७-२३) इन तीनों मे से 'सत्' के विषय में गीता कहती है, सत् केवल परम तत्त्व की सत्ता का ही द्योतक नहीं है, प्रत्युत उसमें सत्कार्य और साधु भाव का भी निर्देश है—"सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते । प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते । (१७-२६) जायसी ने भी राजा रत्नसेन ही से कहला दिया है—"राजै कहा सत्य कहु सूआ, बिनु सत सब सँवर का भूआ; होइ मुख रात सत्य के बाता, जहाँ सत्य तहँ धरम सँघाता।" (पृ० ४१) परंतु स्वयं राजा इस सत्य और धर्म के संघात को समझा है, इसमें संदेह ही है; क्योंकि स्वतः उसकी करतूत से, अगर जायसी के शब्दों को अभिप्रेत अर्थ से भिन्नार्थ में उद्धृत करें तो कह सकते हैं कि—"आगि लगाइ चहूँ दिसि सत जरा।"[१] हम तो नागमती की अवहेलना कर पद्मावती के प्राप्त करने के लिये राजा के प्रयत्न को ठीक उसी दृष्टि से देखते हैं, जिस दृष्टि से नाथपंथी मछंदरनाथ के सिंहल जाकर पद्मिनी स्त्रियों के जाल में पड़ जाने को देखते हैं। वह पतन है, उत्थान नहीं। हाँ, हमें जायसी के वस्तु-निर्माण-कौशल और उनकी लगन के संबंध में कोई शिकायत नहीं है। इस सम्बन्ध में श्रद्धेय गुरुवर पंडित रामचंद्र शुक्ल जी ने जो कुछ लिखा है[२] उसे हम ब्रह्मवाक्य समझते हैं। जायसी

---

१ जा० ग्र०, पृ० ४१

२ प्रबंधकल्पना, जा० ग्रं० पृ० ८३-८८; ईश्वरोन्मुख प्रेम, ६७-८८

की कहानी बड़ी सुंदर है। उनकी आध्यात्मिक लगन भव्य है। परंतु हमें शिकायत इस बात की है कि उन्होंने इन दोनों का मेल ठीक नहीं किया है। अपने अध्यात्मवाद के लिये पद्मावत की कहानी चुनकर और पद्मावत की कहानी में अध्यात्मवाद का आरोप करने का प्रयत्न कर उन्होंने असंभव को संभव बनाने में हाथ लगाया है। इन दोनों का समन्वय हो नहीं सकता। पद्मावत की कहानी में ये दोनों उन दो प्रतिकूल प्रकृतिवाले पड़ोसियों के समान हैं जो खटपट और हाथापाई में समय बिताकर एक दूसरे को लांछित करते रहते हैं। कहानी अध्यात्मवाद की हँसी उड़ा रही है और अध्यात्मवाद कहानी को विरूप बना रहा है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर आदि ने भी विपर्यय-चमत्कार लाने के उद्देश्य से 'दुनिया-धंधा' की उपमा प्रथम कुलवंती परिणीता से दी है, जिसे छोड़कर नई बेपर्द स्त्री-रूप माया-रहित भक्ति को ब्याह लाना विधेय बतलाया है। उदाहरण के लिये इस पद को लीजिए—

"अब की घरी मेरो घर करसी।
साध सँगति ले मो को तिरसी॥

पहली को घाल्यो भरमत डोल्यो, सच कबहूँ नाहिं पायो।
अब की घरनि घरी जा दिन थैं, सगलौ भरम नसायौ॥
पहली नारि सदा कुलवंती, सासू ससुरा मानै।
देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय को मरम न जानै॥

अब की घरनि घरी जा दिन थैं, पिय सूँ बाम बन्यूँ रे।
कहै कबीर भाग बपुरो की, आइ'रु राम सुन्यूँ रे॥"[1]

परंतु एक तो ऐसी उक्तियाँ मुक्तक हैं, किसी प्रबन्ध के अंग होकर सामाजिक जीवन के बीच वास्तविक व्यवहार के प्रदर्शक नहीं दूसरे, इनका उलटा अथवा उलटबाँसी होना ही इनको सामाजिक आदर्श तोड़ने से बचा लेना है ; क्योंकि पाठक अथवा श्रोता पहले ही से जानता है कि इनमें जो लौकिक पक्ष दिखलाया गया है वह वास्तविक आदर्श का उलटा है। परंतु किसी प्रबंध के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। यह भी बात नहीं कि लौकिक आदर्शों की अवहेलना करके ही आध्यात्मिक पक्ष के लिये अलंकार-विधान की सामग्री प्रस्तुत की जा सके। माया अथवा मायिक जगद्व्यवहार की तुलना साधु-संतों ने कुलटा व्यभिचारिणी तथा गणिका से भी की है। पद्मावत-सरीखे प्रबंधों में अगर इसी पिछले ढंग पर अन्योक्ति की जाती तो लौकिक पक्ष पूर्ण रूप से आध्यात्मिक पक्ष का प्रतीक बन सकता और लौकिक आदर्श का भी सुंदरता से निर्वाह हो जाता।

---

१ कबीर-ग्रन्थावली, पृष्ठ १६५

हिन्दी-साहित्य में उपासना का स्वरूप

(कल्याण से उद्धृत)

साहित्य और उपासना दोनों के मूल में एक ही तत्त्व काम करता है। घनीभूत भावना का एक-मुख निकास साहित्य और उपासना दोनों को जन्म देता है। यद्यपि साहित्य का क्षेत्र उपासना क्षेत्र से बहुत विस्तृत है तथापि उसका एक अंश उपासना के क्षेत्र से घनिष्ठरूप से सम्बद्ध है। बल्कि कहना चाहिये कि इस दृष्टि से ये दोनों एक ही वस्तु के दो रूप हैं। मनः प्रवृत्ति के क्षेत्र में जो उपासना है, अभिव्यञ्जना के क्षेत्र मे वही साहित्य हो जाता है।

भगवान् के सन्निधान के इच्छुक महात्माओं की वाणी ने भाषा के साहित्य को अमर रत्न प्रदान किये हैं। हिन्दी पर भी उनका आभार और किसी भाषासे कम नहीं। इस जन वाणी के साहित्यिक प्रसार का सबसे अधिक श्रेय सन्त-महात्माओं को ही है। परमात्मा शायद उसी भाषामें की हुई प्रार्थना को सुनता है जिसमें हमारे हृदय की वासनाएँ स्वभावतः प्रकट हो सकती हैं। जिस भाषा में भूखा बच्चा माँ के पास जाकर 'भूख लगी है माँ' कहा करता है, वही उसकी आध्यात्मिक भाषा है। अतएव हमारे सन्त-महात्माओं की भक्ति के अकृत्रिम

स्रोतका उसी में उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही था, और यह भी स्वाभाविक है कि साम्प्रदायिक पद्धतियों को छोड़कर हृदय के इन्हीं सरल उद्रेकों में हम उनकी उपासना के विशुद्ध स्वरूप के दर्शन की आशा करें।

परमात्मा परमार्थतः सगुण है अथवा निर्गुण, यह झगड़ा दर्शनशास्त्र की सीमा को पारकर हमारे साहित्य में भी पहुँच गया परन्तु साधना के मार्ग में इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। सूरदास ने निर्गुण ज्ञान का उपदेश देनेवाले उद्धवकी गोपियों के हाथों बुरी गति बनवायी। तुलसीदास ने ज्ञानमार्गी लोमश ऋषि को ऐसा अज्ञानी बनाया कि भुशुण्डि के मुँह से सगुणोपासना की बातें सुनकर वे आग बबूला हो गये और उसे कौआ बनने का शाप देकर फिर अपनी मूर्खता पर जी भर पछताये। इसके विपरीत कबीर सगुणवादियों की हँसी उड़ाते थे—

गुणमयी मूर्ति सेइ सब भेख मिली,
निर्गुण निजरूप विश्राम नाहीं।
अनेक जुग बंदगी विवध प्रकार की,
अति गुण का गुण ही समाहीं॥

परन्तु जहाँ साधना का निरूपण अभीष्ट हुआ, वहाँ दोनों पक्षवालों ने एक ही बात कही। जहाँ एक ओर सूरदास कहते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै।

रूप रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु, निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम बिचारहि तातें 'सूर' सगुन लीला पद गावै॥

वहाँ दूसरी ओर भक्ति-भाव के लिये जगह निकालने के उद्देश्य से कबीर भी कहते हैं—

संतो धोखा कासों कहिये।
गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण है, 'बाट' छाँड़ि क्यों बहिये॥

जो कबीरदास के सिद्धान्त और उनकी साधना में विरोध बताकर उनपर 'धोखे' का दोषारोपण कर रहे थे, उनको जवाब देना जरूरी था। क्योंकि कबीर जानते थे कि—

भाव भगति बिसवास बिनु, कटै न संसै-सूल।
कहै 'कबीर' हरि भगति बिनु, मुकति नहीं रे मूल॥

इसीसे वे पुरानी 'बाट' छोड़कर बहना नहीं चाहते थे।

शुष्क तत्त्व-चिन्तन, रूखे जप-तप, यज्ञ-याग में मनुष्य के हृदय के लिये सरस आकर्षण नहीं होता। परलोक में इनके करने से चाहे जितने सुखों की सम्भावना हो, परन्तु जबतक हमारे हृदय का संयोग अपने साधना-मार्ग के साथ इसी जीवन में न हो जाय तबतक हमारे लिये यह परलोक हमेशा पर-लोक रहेगा, अप्राप्य रहेगा। परिणाम की दृष्टि से इन साधनों का उपयोग इतना ही है कि ये मन को एकाग्र करने में सहायक होते हैं। परन्तु उसमें भी ये अकेले ही सफल हो सकते हैं यह दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः मन बलात्कार से

हैं और श्रवण, कीर्तन, परोपकार आदि द्वारा भगवत्प्राप्ति में सहायक होती हैं—

जब लगि थो अँधियार घर, मूस थके सब चोर।
जब मंदिर दीपक बरयो, वही चोर धन मोर॥

—मलूक

मनुष्य के मनस्तत्त्व की इस विशेषता ने आध्यात्मिक साधना-पथ में इष्टदेव की कल्पना करायी है। भक्त के चित्त की इसी मृदुल भावना का आलम्बन बनने के उद्देश्य से 'भए प्रगट कृपाला दीनदयाला, कौसल्या हितकारी' (तुलसी) और 'पारावार पूरन अपार परब्रह्म रासि जसुदा के कोरें* एक बार ही कुरे परीं (देव) यहाँ तक कि 'नाजसंरथि घर औतार आवा''' नाजसबै लै गोद खिलावा' कहनेवाला वेदान्ती भी वेदान्त—वेदान्त भूल कर विवश होकर कह उठा—

महापुरुष देवाधिदेव, नरसिंह प्रगट कियो भगति भेव।
कहै 'कबीर' कोइ लहै न पार, प्रह्लाद उबारयो अनेक बार॥

सचमुच इन लोहे के चनों को चबाने के लिये 'वेदान्त भी बेदांत है।' इसी से तो निर्गुण ब्रह्म के राज्य में सर्वैश्वर्य-विभूति सम्पन्न ईश्वर का प्रकटीकरण हुआ है! तत्त्वचिन्तक कुछ भी कहा करे, भक्त उपासक का दिल तो उछल-उछल कर यही कहता रहेगा—

---

* कोरे=क्रोड, गोद में।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभा-
त्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

'नेदं यदिदमुपासते' (केन० १ । ५) कहने भर से तो काम चलता नहीं। हृदय के लिये तो सामग्री जुटानी ही पड़ती है।

सुन्दर बदन कमल दल लोचन,
बाँकी चितवन, मन्द मुसकानी।
(मीरा)

ये बातें न होंगी तो दिल कैसे मानेगा ?

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति ।
(छान्दोग्य० ७ । २२)

उद्धव ने गोपियों को तत्त्व चिन्तन का महत्त्व समझाने में अपना दिमाग खपा दिया परन्तु क्या उनके मन में उसकी बात जरा भी बैठी ? उन्होंने सौ बात की एक बात कहकर उसके सब तर्क वितर्कों को बेकाम कर दिया—

ऊनो* कर्म कियो मातुल वधि, मदिरामत्त प्रमाद ।
'सूरस्याम' एते अवगुन में निर्गुन ते अति स्वाद ॥

गुणों के अवगुणों की अब कोई क्या शिकायत करेगा ?

---

* ऊनो = कम, तुच्छ, बुरा ।

इन गाँठों में लोक-हितैषणा का मधुर रस भरा हुआ है, भाई! इन्हीं से भक्त को अपने उद्धार की आशा होती है। यहाँ तर्क-वितर्क सब 'कुतर्क' कहलाते हैं। सती को जितना दुःख भोगना पड़ा वह सब इसलिये कि जहाँ विश्वास करना चाहिये, वहाँ वह तर्क करने लगीं, दिल का काम दिमाक से लेने लगीं।

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज, अकल अनीह अभेद।
सोकि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥

भला तर्क से यह समस्या हल हो सकती है? परन्तु पार्वती जन्म में जब उनकी तर्क-बुद्धि मिट गयी और उन्हें अनुभव हो गया कि 'सो फलु भली भाँति हम पावा॥' तब शिवजी के समझाने से उनके दिल में यह बात बैठते देर न लगी कि—

अगुन - अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥ —तुलसी

इष्टदेव की सिद्धि तर्क से नहीं प्रेम से होती है। इष्टदेव की भावना में चञ्चल मन के आगे भगवान् का वह मन्जुल मनोहर रूप रक्खा जाता है जिसे देखकर वह विवश होकर खुद ही भटकना छोड़ देता है। बाहर से जोर-जबर की जरूरत नहीं पड़ती। संसार का फिर उसके ऊपर कुछ असर नहीं रह जाता—

मो मन गिरिधर छबि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चालपै चलिकै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥

सजल स्याम घन बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
'कृष्णदास' किये प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो॥

इष्टदेव कर्ता, धर्ता, हर्ता सब कुछ होने के पहले इष्ट है हमारी रुचि, प्रेम और लालसा पर अधिकार किये रहता है। वह हमारे हृदय में सांसारिक प्रेम के लिये, मोह के लिये जगह नहीं रहने देता. मोहिनी के मान को ठुकरा देना और मानिनी से हृदय को हटा लेना आसान बना देता है—

तोरि माननीतें हियो, फोरि मानिनी मान।
प्रेमदेव की छबिहि लखि, भये मियाँ रसखान॥*

---

* इस रास्ते में देश, जाति और सम्प्रदाय का कोइ भेद नहीं चलता। अनामी के भिन्न-भिन्न नामकरण कर देने से उसमें भद थोड़े हो आ जायेगा। इस अनस्ति भेदभाव के लिये लोग लड़ें तो मूर्खता छोड़कर उसे और क्या कहेंगे? लगभग चार सौ वर्ष पहले मनोहर कवि ने कहा था—

अचरज मोहिं हिंदू तुरक, बादि करत सग्राम।
इक दीपतिसों दीपियत, काबा कासीधाम॥

यह रास्ता सबके लिये खुला है जो चाहे उससे अपने जीवन को सरस बना ले। हिन्दू इसी रास्ते पर चलकर अपने जीवन में वास्तविक मधुरिमा भरते हैं, मियाँ भी जब 'रसखान' होना चाहते हैं तो इसी मार्ग पर चलते हैं—

प्रेमदेव की छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान।

हमारे लिये वह पुत्र (वात्सल्य में), सखा (सख्यभाव में) पति (माधुर्यभाव में), पत्नी (सूफीमाधुर्य में) माता-पिता सब कुछ बन जाता है। जो उसका जैसे भजन करता है उसको वह वैसे ही मिलता है।

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

अगर ऐसा न होता तो भगवान् की यह प्रतिज्ञा झूठी न हो जाती—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

भक्त को उससे डरने का अवसर नहीं होता। वह इष्ट है, 'भय बिनु होइ न प्रीति'का अनुसरण नहीं करता। 'रीझि भजो कै खीजि', वह अपनी तरफ का काम पूरा करेगा। तुलसीदास तो उनका 'पूतरा' नचाने तक को उतारू हो गये थे। भावुक भक्त उसमें और प्रेम में कोई अन्तर नहीं देखता; वे दोनों एक हैं। बल्कि कहना यह चाहिये कि भगवान् साक्षात् प्रेमस्वरूप हैं—

प्रेम हरी को रूप है, वे हरि प्रेमस्वरूप।
एक होय दो मैं लखै, ज्यों सूरज में धूप॥

—रसखान

उपासक केवल अपने इष्टदेव का सान्निध्य चाहता है। उसीके प्रेम में वह निमग्न रहता है। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते कभी भी वह उसके मन से बाहर नहीं निकलता। वह उसे अपने हृदय में छिपाना चाहता है—

दूरि न दौरि दुरयो जो चाहौ तो दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं।

—रत्नाकर

अपनी आँखों में बसाना चाहता है—

साँवरेलाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यौ ॥

—देव

अपने सारे संसार का उसी में पर्यवसान कर देना चाहता है—

आओ प्यारे मोहना, नयन झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देउँ॥

—कबीर

शरीर से वह सब काम करता रहता है, पर उसकी लगन नहीं छूटती—'जस नागरि को चित गागरि में' (रसखान)। उसे उसकी प्रेममयी स्मृति रात-दिन बनी रहती है। उसके मनन, उसके ध्यान और उसके दर्शन से उसकी तृप्ति हो नहीं होती. जितना ही अधिक वह इस प्रेमामृत का पान करता है। उसके लिये उतनी ही अधिक तीव्र उसकी तृपा होती जाती है। वह चाहता है कि उसके रूप को देखने के लिये रोम-रोम आँखें बन जायँ, उसकी वाणी सुनने के लिये शरीर पर जगह-जगह कान हो जायँ और उसकी बगल छोड़कर वह कहीं जाय ही नहीं—

श्रीहरि की छवि देखिवे को अँखियाँ
बैनन के सुनिवे हित श्रौन जिते ।
मोढिग छाड़ि न काम कहूँ रहै 'तो
तौ करतार इती करनी करिकै का

उपास्यदेव ही नहीं बल्कि उनके
उनके क्रीड़ा के स्थल भी उसी प्र
भावनाओं से घिर जाते हैं। उपा
उसकी कोमल कल्पनाओं के केन्द्र
उपास्यदेव का सम्पूर्ण वैभव स्मृतिरूप
मण्डल बाँधे दिखायी देता है। उन र
उसी पुराने वातावरण में घिरा पाता
पावन कर चिरस्मरणीय बनाया था।
उतने ही आकर्षक हो जाते हैं।

मानुस हौं तौ वही 'रसखान' बसौं लँग
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित
पाहन हौं तौ वही गिरिको जो कियो हरि
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालि

रसखान का यह सवैया तो
का यह ... भी इस सम्बन्ध
नहीं है

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन ? तौन जौन राधे-राधे नाम रटै,
तट कीजै वर कूल कालिंदी के कगर को॥

इतने पै जोइ कुछ कीजिये कुँवर कान्ह,
राखिये न आन फेर 'हठी' के झगर को।
गोपी-पद-पंकज-रज कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल के बगर को॥

तुलसीदासजी ने उपासक का आदर्श स्वरूप उस तेजपुंज लघु वयस 'तापस' में दिखाया है जो प्रयाग से आगे बढ़कर वन जाते हुए राम के दर्शनों के लिये उत्सुकता के साथ यमुनातट पर आया था। यह तपस्वी कौन था, इस पर वितर्क-तर्क करते हुए भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं, परन्तु हृदय उन्हींके मत को स्वीकार करता है जो उसमें स्वयं तुलसीदास का प्रतिरूप देखते हैं। वह चाहे जो रहा हो, पर आदर्श उपासक अवश्य था। राम को देखकर उसके प्रेमोल्लास की इयत्ता न रही। उसके शरीर में पुलक और आँखों में आँसू आ गये। उसकी दशा का वर्णन नहीं हो सकता। आँखरूपी दोने से वह राम के रूपामृत का पान कर रहा था। उसे वही आनन्द हो रहा था जो भूखे को अच्छा आहार मिलने पर होता है।

श्रीहरि की छवि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहिं मैं करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित श्रौन जिते तित ही करतो करि हेतो॥
मोढिग छाड़ि न काम कहूँ रहै, 'तोष' कहै लिखतो बिधि एतो।
तौ करतार इती करनी करिकै कलि मैं कल कीरति लेतो॥

उपास्यदेव ही नहीं वरिक उनके सान्निध्य और संसर्ग से उनके क्रीड़ा के स्थल भी उसी प्रकार की पूत और स्निग्ध भावनाओं से घिर जाते हैं। उपास्यदेव के अभाव में वे ही उसकी कोमल कल्पनाओं के केन्द्र हो जाते हैं। उसे अपने उपास्यदेव का सम्पूर्ण वैभव स्मृतिरूप से उनके चारों ओर विचित्र मण्डल बाँधे दिखायी देता है। उन स्थलों में वह अपने आपको उसी पुराने वातावरण में घिरा पाता है, जिसने एक दिन उनको पावन कर चिरस्मरणीय बनाया था। अतएव वे भी उसके लिये उतने ही आकर्षक हो जाते हैं।

मानुस हौं तौ वही 'रसखान' बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नंद को धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरिको जो कियौ हरि छत्र पुरंदर धारन।
जौं खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

रसखान का यह सवैया तो प्रसिद्ध ही है, भक्तवर हठीजी का यह कवित्त भी इस सम्बन्ध में कम प्रसिद्धि पाने योग्य नहीं है—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन? तौन जौन राधे-राधे नाम रटै,
तट कीजै वर कूल कालिंदी के कगर को॥

इतने पै जोइ कुछ कीजिये कुँवर कान्ह,
राखिये न आन फेर 'हठी' के झगर को।
गोपी-पद-पंकज-रज कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल के बगर को॥

तुलसीदासजी ने उपासक का आदर्श स्वरूप उस तेजपुंज लघु वयस 'तापस' में दिखाया है जो प्रयाग से आगे बढ़कर वन जाते हुए राम के दर्शनों के लिये उत्सुकता के साथ यमुनातट पर आया था। यह तपस्वी कौन था, इस पर वितर्क-तर्क करते हुए भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं, परन्तु हृदय उन्हींके मत को स्वीकार करता है जो उसमें स्वयं तुलसीदास का प्रतिरूप देखते हैं। वह चाहे जो रहा हो, पर आदर्श उपासक अवश्य था। राम को देखकर उसके प्रेमोल्लास की इयत्ता न रही। उसके शरीर में पुलक और आँखों में आँसू आ गये। उसकी दशा का वर्णन नहीं हो सकता। आँखरूपी दोने से वह राम के रूपामृत का पान कर रहा था। उसे वही आनन्द हो रहा था जो भूखे को अच्छा आहार मिलने पर होता है।

सजल नयन तन पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि ।
परेउ दंड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि ॥

चित्रवत नयन पुट रूपपियूखा ।
मुदित - असन पाइ जिमि भूखा ॥

इष्टदेव की प्रधान विशेषता उसकी प्रेम-वश्यता है । वह केवल हमें ही अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता, स्वयं भी हमारी ओर आकृष्ट होता है । क्योंकि भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं है । इसी से तुलसीदास ने कहा है—'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमलिन कह दास तुलसी' । जिस समय उपरिलिखित 'तापस' ने आँखों में आँसू और तन में पुलक लाकर राम को दण्डवत् प्रणाम किया, उस समय राम चुपचाप थोड़े ही रहे । उन्होंने उपास्यदेव के कर्तव्यका पूरा निर्वाह किया । उन्होंने भी पुलकित होकर उसे सप्रेम गले लगाया उपासक को यदि भूखे का मधुर भोजन मिला तो उपास्यदेव को भी निर्धन का पारस पत्थर; प्रेम और पर मार्थ का मिलन हो गया—

राम सप्रेम पुलकि उर लावा । परम रंक जनु पारस पावा ॥
मनहु प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरे तन कह सब कोऊ ॥

इसी प्रणत-पालक प्रेम ने गीता में भगवान् से आश्वासन दिलाया है—ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेपु चाप्यहम् ॥ (९ । २९) इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए सूरदास ने भगवान् से कहलाया है—'हम भगतन के भगत हमारे ।' भक्त के प्रेम के

सूत्र के आगे परमात्मा अपने समस्त ऐश्वर्य को भूल जाता है और प्रेम के झीने तार मे ही बँध जाना सबसे बड़ा ऐश्वर्य समझता है—

या झीने-हित तार में, बल एको अधिकाइ।
अखिल लोकको ईस हू, जासों बाँधो जाइ॥

इस 'झीने हित-तार' को यह बल उसी की प्रेमवश्यता से मिला है। तभी तो—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुबेद बतावैं॥

—रसनिधि

नारद लौं सुकव्यास रटैं पचि हारैं तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाभर छाछ पै नाच नचावैं॥

—रसखान

सच्चे उपासक का प्रेम वह प्रेम नहीं जिसे करके 'सम्मन' की तरह पछताना पड़े—

निकट रहे आदर घटे, दूरि रहे दुख होय।
'सम्मन' या संसार में, प्रीति करे जनि कोय॥

आध्यात्मिक प्रेम मे यही तो विशेषता है कि वह सांसारिक प्रेम की तरह क्षीण नहीं होता, उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जितना ही भक्त भगवान् के 'निकट' पहुँचता है उतना ही उसका प्रीतिभाजन होता जाता है। उपासना का अर्थ ही समीप बैठना

है। इसलिये इस आसव का पान जिसने एक बार कर लिया उसकी लहर मिट नहीं सकती —

> हरि रस पीया जानिए कबहुँ न जाय खुमार।
> मैमंता घूमत रहै, नहि तन मन की सार॥
>
> —कबीर

इस मन्दिर आनन्द में उपासक संसार के सब सुखों को तृणवत् समझने लगता है। उसे किसी बात की इच्छा ही नहीं रह जाती। उसकी सब कामनाएँ एक मुखी होकर उपास्यदेव में लीन हो जाती हैं। उपासना से मुक्ति तो अवश्य मिलती है, पर सच्चे उपासक की उपासना तल्लीनता की उस चरम दशा को पहुँच जाती है जिसमें वह किसी साध्य का साधन न रहकर अपना उद्देश्य अपने आप हो जाती है। वैकुण्ठ की भी आकांक्षा उसमें नहीं रह जाती।

कहा करौं वैकुण्ठहि जाय?
जहँ नहि नंद, जहाँ न जसोदा,
नहि जहँ गोपी, ग्वाल न गाय॥
जह नहि जल जमुना को निर्मल
और नहीं कदमन की छाँय।
'परमानंद' प्रभु चतुर ग्वालिनी
व्रजरज तजि मेरी जाय बलाय॥

ब्रह्मानन्द भी उसके सामने तुच्छ लगने लगता है। राम को देखकर विदेहराज की यही दशा हो गयी थी—

इन्हहि विलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥

मोक्ष तक की यह अनिच्छा ही उपासक को मोक्षपद की योग्यता प्रदान करती है। जिस अनन्य भक्ति का शाण्डिल्यने---

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्। (९६)

इस सूत्र में और गीता ने—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(८। २२)

—इस श्लोक में उल्लेख किया है, वह यही है। इसके प्राप्त हो जाने पर फिर उपासक को स्वयं अपनी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। 'पुरुष' अर्थात् भगवान् स्वयं उसके लिये चिन्तित रहते हैं। गीता में भगवान् ने स्वय ही आश्वासन दिया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

इसका वे सदैव पालन करते आये हैं। और भक्त के अपने तन-मन की सुधि भूलकर मुक्ति से विरत रहने पर भी वह उसकी

मुक्ति की चिन्ता रखते हैं। स्वतः उसे अपनाकर उसे मुक्ति प्रदान करते हैं।

परन्तु यह न समझना चाहिये कि परमात्मा को कहीं बाहर से दौड़कर आना पड़ता है। वह तो सर्वत्र व्यापक है, सबके हृदय में वास करता है और अनन्य उपासक का हृदय तो उसका खास अपना घर है, निज-निवास है। निवास ढूँढ़ते हुए राम से तुलसीदास के वाल्मीकि ने कहा था—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

कबीर कहते हैं—

सब घट मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोय।
भाग तिन्हों का है सखी! जा घट परगट होय॥

हमारा हृदय ही क्षीरसागर है जिसमें शेषनाग की सेज पर भगवान् (चेतन तत्त्व) लेटे हुए हैं। जब तक भगवान् सोये रहते हैं विषय-वासनारूप सहस्र जिह्वाएं फूत्कार करती हुई हमें त्रस्त करती रहती हैं। किन्तु ज्यों ही देवोत्थान होता है, त्यों ही शेषनाग (आधिभौतिकता) की ये सहस्र जिह्वाएँ स्वयं त्रस्त होकर सिमिट जाती हैं, और यह शेषनाग भी धन्य होकर पूजा का पात्र हो जाता है—

अरे अशेष! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा।
आ मेरे आराध्य खिला लूँ-तुझको आज खिलौना-सा॥

—एक भारतीय आत्मा

देवोत्थान के लिये किसी एकादशीविशेष की आवश्यकता नहीं। अपनी सच्ची लगन और अनन्य उपासना से हम जब चाहें तब अपनी देवोत्थानी एकादशी उपस्थित कर सकते हैं।

मुक्ति न चाहने पर भी अपने ही हृदयस्थ ऐसे भगवान् से भाग कर भक्त जा कहाँ सकता है। भगवान् से उसको और उससे भगवान् को छोड़ते बने तब न वह मुक्ति को छोड़े ? और परमात्मा के साथ शाश्वत समागम अथवा अद्वैत भाव को छोड़कर, मुक्ति है क्या ? भक्त तो परमात्मा को क्या छोड़ेगा, परमात्मा भी भक्त को नहीं छोड़ सकता—

कबीर मन मिरतक भया, दुरबल भया सरीर।
पाछे लागे हरि फिरें कहत 'कबीर ! कबीर !!'॥

सूरदास भी कहते हैं—

भक्त विरह कातर करुनामय डोलत पाछे लागे।

इस करुणा की कोई सीमा है ? बेचारे तुलसीदास को झोली तूमड़ी भी न रखने दी। उनकी पहरेदारी पर ऐसे जा डटे कि उन्हें लुटा देने के सिवा गरीब को और कोई उपाय ही न सूझा। इसी के बल पर तो रुनुकवा के वास्तविक दृष्टिवाले अन्धे भक्त ने हाथ छुड़ा कर भागते हुए भगवान् को ललकार कर कहा था—

बाँह छुड़ाये जात हो, निर्बल जानि कै मोहि।
हिरदेसे जब जाहुगे, मरद बदौंगो. तोहि॥

इस प्रकार उपासनाकी आत्मा-विस्मृति-कर तल्लीनता- के द्वारा उपासक को अयाचित ही वह मुक्ति सुलभ हो जाती है, जो जप-तप, ज्ञान-वैराग्य, योग-यागद्वारा भी दुर्लभ मानी गयी है। जप-तप आदि करके भी अगर लोग विफल हों तो जप-तप का क्या दोष ? उन्हें जानना चाहिये कि राम-प्रेम से प्रसन्न होते हैं, केवल उन बातों से नहीं जिनमें बनावट भी हो सकती है—

रामहि केवल प्रेम पियारा । जानि लेहु जो जाननिहारा ।

सहस्रार में ब्रह्म की झलक पाने के लिये भी प्रेमाविष्ट जागर्ति की आवश्यकता है—'पति सँग जागी सुंदरी, ब्रह्म झलकै सीस' (कबीर) इसलिये मुक्ति तो प्रेमपूर्ण उपासना से ही मिलेगी; जप, तप योग इत्यादि तो उसके बाहरी लक्षण अथवा अधिक-से-अधिक सहायक मात्र हैं। उपासना के बिना वे निःसत्त्व हो जाते हैं। उपासना के सहयोग में उनको सार्थकता है, अन्यथा नहीं—

आसन दृढ़, आहार दृढ़, सुमति ग्यान, दृढ़ होय ।
'तुलसी' बिना उपासना, बिनु दुलहे की जोय ॥

बिना दुलहे को दुलहिन ही क्या ?

मूल गोसाईं चरित की प्रामाणिकता

'मूल गोसाईं चरित' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में साहित्यिक संसार एक मत नहीं है। उसके सम्बन्ध में कोई मत स्थिर करना है भी कठिन काम। आजकल ऐसे-ऐसे ग्रंथ 'खोज' निकाले जा रहे हैं जो पाठकों की विश्वासी प्रवृत्ति को आश्चर्य में घोल कर शंका के मार्ग से बहा देने का काम कर रहे हैं। मूल गोसाईं चरित के सम्बन्ध में भी यह शंका उठाना स्वाभाविक है कि यह भी अभिप्राय-विशेष से खोज निकाला हुआ ग्रंथ तो नहीं है। परंतु केवल इसी कारण मूल गोसाईं चरित को अप्रामाणिक मान बैठना भी उचित नहीं। उसकी स्वतंत्र जाँच करना आवश्यक है, जिससे पता चले कि यह शंका निर्मूल है अथवा उसके लिए कोई आधार भी है।

गोसाईं चरित्र

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वेणीमाधव दास ने गोस्वामी तुलसीदास का एक वृहद् जीवन-चरित लिखा था। अपने 'सरोज' में शिव सिंह सेंगर ने वेणीमाधव दास का परिचय देते हुए लिखा था—"यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी के शिष्य उन्हीं के साथ रहते रहे हैं, और गोसाईंजी के जीवन चरित्र को एक पुस्तक गोसाईं चरित्र नाम की बनायी है।"

जान[1] पड़ता है कि सरोजकार ने इस ग्रंथ को देखा भी था। तुलसी दास के सम्बन्ध में लिखते हुए 'सरोज' कार ने कहा है—"इनके जीवन-चरित्र की पुस्तक बेणीमाधव दास पसका ग्रामवासी ने जो इनके साथ साथ रहे, बहुत विस्तारपूर्वक लिखी है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रगट होते हैं।'[2] 'सरोज' कार ने बेणीमाधव दास की कविता में जो तोटक दिया[3] है वह गोसाईं चरित्र का ही जान पड़ता है। परन्तु अब वह ग्रंथ अप्राप्य है। डॉ० ग्रिअर्सन को भी विश्वस्त सूत्र* से इस ग्रंथ के अस्तित्व की सूचना मिली थी, पर उन्हें वह देखने को मिला नहीं। बिना उसे देखे ही उन्हें अपने ग्रंथ 'वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ 'हिंदुस्तान' में गोसाईंजी की जीवनी लिखनी पड़ी, इसकी उनके जी में बड़ी कसक रह गयी (पृ० ४२)।

मूलचरित

परन्तु इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि बेणीमाधवदास के बड़े चरित के साथ मूल गोसाईंचरित भी था अथवा बेणीमाधव ने मूलचरित भी लिखा था। और ग्रन्थों में भी मूलचरित देने की

१—शिव सिंह सरोज, रूपनारायण संपादित, नवलकिशोर १९२६ ई०, पृ० ४३२।

२ वही, ४२७

३ वही, १३१'

* मैं समझता हूँ यह विश्वस्त सूत्र 'सरोज' ही था।

था पायी जाती है। विशेषकर बृहद् चरित्रों के साथ मूलचरित ने की आवश्यकता पड़ती होगी। वाल्मीकि रामायण के आरम्भ सौ श्लोकों के एक सर्ग में मूल रामायण दी गयी है। ामचरितमानस' में पार्वती ने जिस ढंग से शिवजी से राम-रित कहने की प्रार्थना की, उसमें गोसाईंजी ने कुछ-कुछ ूलचरित देने की प्रथा का निर्वाह किया है। परंतु अलग ग्रन्थ ः रूप में मूलचरित की रचना कहीं नहीं पायी जाती। मूल ारित एक प्रकार से संक्षिप्त विषय-सूची का काम करता है। 'मूल ोसाईं चरित की रचना बड़े चरित की समाप्ति के पीछे नित्य ाठ के लिए हुई। यह प्राप्त 'मूलचरित' का दावा है—

संतन कहेउ बुझाय, मूलचरित *पुनि* भाषिए।
अति संक्षेप सोहाय, कहौं सुनिय *नित पाठ* हित ॥१॥

परंतु मूलचरित में इस बात का ध्यान नहीं रखा गया है । कई प्रकार के नित्य पाठों के बोझ से लदे हुए संत, चाहे वे ुलसीदास के शिष्य क्यों न हों, तुलसीदासजी की जीवनी के ए भी कितना समय दे सकते हैं। वाल्मीकि की मूल रामायण जो संक्षिप्तता पायी जाती है, वह मूल गोसाईं चरित में नहीं ायी जाती। ।जन्म आदि की कई घटनाएँ तो उसमें बहुत ास्तार के साथ दी हुई हैं। कभी-कभी तो ऐसा भान होने ागता है मानों लेखक को जो कुछ घटनाएँ ज्ञात हुईं उसने वे ाब दे डाली हैं, जिनके संबंध में उसका ज्ञान विस्तृत था। उन्हें

उसने विस्तार से लिख दिया है, जिनके संबंध में नहीं था उसका उल्लेख मात्र कर दिया है। और चाहे जो कुछ हो मेरी समझ में वह मूलचरित के अनुरूप 'अति संक्षेप' नहीं है। परंतु यह भी हो सकता है कि वेणीमाधवदास के मूलचरित का प्रतिमान (स्टैंडर्ड) कुछ दूसरा ही हो, अथवा उनका बड़ा 'चरित' इतना वृहद् हो कि उसकी तुलना में मूलचरित का ऐसा ही परिमाण उनकी दृष्टि में अति संक्षेप हो।

'सरोज' का साक्ष्य

'सरोज' कार ने 'गोसाईं चरित' देखा था, यह मैं लिख चुका हूँ। परंतु उन्होंने गोसाईं जी के जन्म-संवत् दिये हैं (!) उनमें से कोई भी मूलचरित में दिये हुए जन्म-संवत् (१५५४) से नहीं मिलते। बड़े चरित में एक और मूलचरित में दूसरा संवत् तो हो नहीं सकता। इससे सामान्यतया यही परिणाम निकलता है कि मूलचरित तथा बड़ा चरित, जिसे शिवसिंह ने देखा था, एक ही व्यक्ति के लिखे नहीं हैं। परंतु सरोज में दिये संवतों के आधार पर ऐसा कोई मत निश्चित कर लेना अनुचित है। उन्होंने संवतों को देने में बड़ी असावधानी की है। शीर्षक में तो तुलसीदास जी का जन्म संवत् १६०१ दिया है परंतु आगे चलकर जीवन की दूसरी ही पंक्ति में संवत् १५८३ में उत्पन्न हुए थे' (पृ० ४२७) लिख दिया। गोसाईं जी के ही संबध में नहीं औरों के संबंध में भी उन्होंने ऐसी ही असावधानी

दिखायी है। अतएव ऐसे प्रमाण को मूलचरित के विरोध में पेश करना भयावह है। मैं यह नहीं कहता कि १५५४ गोसाइँ जी का सही जन्म संवत् है, परंतु गोसाइँ जी की शिष्य-परंपरा में इसी जन्म संवत् का माना जाना भी इस बात को पुष्ट करता है कि वेणीमाधवदास ने भी इसी को उनका जन्म संवत् माना होगा।

सरोज'-कार ने बड़े चरित का कुछ अच्छा उपयोग नहीं किया। गोसाइँ जो के ग्रंथों के संबंध में भी उन्होंने गोसाइँ चरित से सहायता नहीं ली। उन्होंने सरोज में उनके उन ग्रंथों का *'जिकर' किया जो उन्होंने 'देखे' अथवा उनके पुस्तकालय में* थे ('सरोज,' पृ० ४२७)। इसलिए इंदावली, करखा, रोला और झूलना रामायणें जिनका 'सरोज' में तो उल्लेख है किंतु 'मूल' में नहीं 'मूलचरित' के विरोध में नहीं की जा सकती।

'सरोज' में लिखा है—"गोसाईंजी श्रीअयोध्याजी, मथुरा, वृन्दावन, कुरु-क्षेत्र, प्रयाग, वाराणसी, पुरुषोत्तमपुरी इत्यादि क्षेत्रों में बहुत दिनों तक घूमते रहे हैं। सबसे अधिक श्री अयोध्या, काशी, प्रयाग और उत्तराखण्ड, वंशीवट जिले सीतापुर इत्यादि में रहे हैं।" जान पड़ता है कि गोसाइँचरित को उलटने-पलटने से जो सामान्य संस्कार शिवसिंह के मस्तिष्क पर पड़ा, उसी के आधार पर उन्होंने इसे लिखा है। गोसाइँजी का उत्तराखंड जाना इसमें कुछ विशेष नवीन बात है जिसका

सामान्य परंपराओं से उतना समर्थन नहीं होता। किंतु मूलचरित इन सब बातों में 'सरोज' से और उसके द्वारा बड़े चरित से सहमत है।

यद्यपि सरोजकार ने मूलचरित का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी वेणीमाधवदास का एक तोटक उद्धृत करके शैली की तुलना के द्वारा भी मूलचरित के संबंध में किसी निश्चय तक पहुँचने का एक साधन वे हमारे लिए छोड़ गये हैं। वह तोटक यह है—

> यहि भाँति कछू दिन बीति गये।
> अपने अपने रस रंग रये॥
> मुखिया इक जूथप माँफ रहे।
> हरिदासन को अपमान गहे[१]॥

यद्यपि इसमे गोसाईं जी का उल्लेख नहीं है फिर भी दृढ अनुमान यही होता है कि यह तोटक गोसाईंचरित का ही है। इससे स्पष्ट है कि मूल गोसाईंचरित में भी प्राय वही छद क्रम है जा बड़े चरित में था। क्योंकि 'मूल' मे भी तोटक दोहे आदि का ही क्रम है। परन्तु इतना ही नहीं दोनों की शैली में भी बहुत साम्य है। उपर्युक्त पंक्तियों से मूलचरित की निम्न लिखित पक्तियों की तुलना कीजिए—

१ शिवसिंह सरोज, पृ० १३१

उपदेस गुरु मोहि नीक लग्यो,
बहु जन्म पुरातन पुन्य जग्यो ॥
बसि कै रसि कै तपि कै चउरी,
हउँ जोहत बाट रह्यो रउरी ॥
अब राजिय गाजिय नाथ इहाँ,
हउँ जाव बसै गुरु मोर जहाँ ॥
कहि के अस वेदिका ते उतर्यो ।
सिरनाइ सिधारेउ दूर पर्यो[1] ॥ ३८ ॥

❀ ❀ ❀

सोरह सै उनहत्तरो माधव सित तिथि थीर ।
पूरन आयू पाइ कै टोडर तजै सरीर[2] ॥ ८७ ॥

इनमें कोई ऐसी बात नहीं दिखायी देती जो इन दोनों उद्धारणों को एक ही व्यक्ति की रचना मानने में बाधक हो और दोनों में साम्य तो स्पष्ट है । 'अपने अपने रस रंग रचे' और 'बसि कै रसि कै तपि कै चउरी' तथा 'अपमान गहै' और 'सरीर तजै' एक ही प्रकार की शैली में लिखे हैं ।

इस प्रकार 'सरोज' का साक्ष्य 'मूल गोसाईं चरित' का पोषक ही है, विरोधी नहीं ।

---

१ गो० तुलसीदास (हिंदुस्तानी एकेडमी), पृ० २३३
२ वही, पृ० २४५

आभ्यन्तर साक्ष्य

अब आभ्यन्तर साक्ष्य की ओर चलना चाहिए। किसी ग्रन्थ की अप्रामाणिकता को जाँच के लिए लोग बहुधा उसमें आये हुए नामों का भी आसरा लेते हैं। मूल गोसाईं चरित में बहुत से नाम आये हैं। भिन्न-भिन्न अवसरों पर 'मूल'-कार ने शेष-सनातन, हितहरिवंश, नरिहरिदास, दरियानंद, मुरारि देव, मधुसूदन, सरस्वती, विरहीभगवंत, विभवानंद, देव, दिनेश, केशव घनश्याम, घासीराम, आनंद, मीराबाई, रूपारुण स्वामी, मलूकदास, नंदलाल, दलालदास, रसखान, जहाँगीर, रहीम, बलभद्र, उदय, चित्सुख, आदि-आदि कई नामों का उल्लेख किया है।

शेपसनातन

शेप. सनातन को मूलकार ने गोसाईंजी का गुरु बताया है। शेपसनातन का अन्यत्र कहीं नामोल्लेख तो नही मिलता है; फिर जान पड़ता है कि यह उसकी कल्पना मात्र नहीं है। शेप गोविंद नामक किसी व्यक्ति ने शंकराचार्य के 'सर्वसिद्धांत संग्रह' की टीका की है। उसमें उसने अपने विद्यागुरु का नाम मधुसूदन सरस्वती और पिता का नाम शेप पंडित बताया है। "कुछ लोग इन शेप पंडित को शेप कृष्ण समझते हैं"* परन्तु मेरी समझ

* विद्यापीठ (त्रैमासिक), भाग २, अङ्क १, सं० १९८६, पृ० ६४-६५

से ये शेषसनातन भी हो सकते हैं। मधुसूदन सरस्वती गोस्वामी तुलसीदासजी के समकालीन थे। उनका महत्त्व और संभवतः वय भी गोसाईंजी से अधिक था। क्योंकि रामचरितमानस की ग्राह्याग्राह्यता की जाँच के लिए पंडितों ने उन्हीं की शरण ली थी। परंपरा में यह कथानक प्रसिद्ध है और मूलचरित भी यही कहता है। कविराज श्रीमान् गोपीनाथ जी ने मधुसूदन सरस्वती का संवत् १६५७ के लगभग तक वर्तमान रहना माना है, जो 'मूल' में मद्योत तथ्य को पुष्ट करता है और संगत भी जान पड़ता है। प्रसिद्ध विद्वान् शेषकृष्ण भी कविराज जी के अनुसार मधुसूदन के समकालीन थे। शेषपंडित यदि शेषकृष्ण होते तो संभवतः शेष गोविंद को मधुसूदन सरस्वती को विद्यागुरु बनाने की इतनी आवश्यकता न पड़ती। इससे समझ पड़ता है कि वे शेषकृष्ण से भिन्न थे। और मधुसूदन अथवा शेषकृष्ण के कुछ पूर्ववर्ती। अनुमान होता है कि शेषपंडित, शेष गोविंद को बालक ही छोड़ कर दिवंगत हो गये थे, इसी से उसे वे स्वयं विद्या-दान न दे सके। मूल-चरित के अनुसार १५८२ सं० में शेषसनातन का स्वर्गवास हो गया था। ऊपर लिखे अनुसार यही शेषपंडित की मृत्यु का भी संवत हो सकता है। शेष-सनातन और शेषपंडित को एक मानने में यह संवत भी इस प्रकार सहायक होता है। यह भी संभव है कि शेष सनातन, शेषपंडित और शेषकृष्ण एक ही वंश के रहे हों, किन्तु अलग-

उदय

मूलचरित में दो बार 'उदय' नाम आया है। जान पड़ता है कि दोनों बार अलग-अलग व्यक्तियों के लिए प्रयोग हुआ है। एक तो 'विप्र उदै' हैं जो राम की एक मूर्ति पर मोहित हो गये थे। इस मूर्ति को कोई दक्षिण से अयोध्या में स्थापित करने के लिए ले जा रहा था। विप्र उदै की इच्छा हुई कि यह मूर्ति वृन्दावन ही में स्थापित हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। उसकी इच्छा रखने के लिए गोसाईंजी ने ऐसा चमत्कार किया कि मूर्ति टस से मस न हुई। और वृन्दावन में उसी स्थान पर "कौशल्या-नन्दन" का मंदिर बनाना पड़ा।

दूसरे कोई 'उदय' हैं, जिन्हें शाह की 'सभा' में कोई सम्मान प्राप्त हुआ था। पहले उदै—विप्र उदै के सम्बन्ध में जाँच करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। हाँ, दूसरे उदय के सम्बन्ध में जाँच करने का साधन मूलचरित में विद्यमान है। जिस दिन इस उदय को शाह की सभा में सम्मान प्राप्त हुआ था उसी दिन गोसाईंजी अयोध्या पहुँचे थे—

> जेहि दिन साहि सभान में उदय लह्यो सन्मान।
> तेहि दिन पहुँचे अवध में श्री गुसाईं भगवान॥
>
> ३७, गो० तु० पृ० २३२

जान पड़ता है कि इसमें किसी ऐतिहासिक घटना की ओर संकेत है। जिस ढंग से 'उदय' का यहाँ उल्लेख हुआ है, उससे

पता चलता है कि यह कोई प्रसिद्ध व्यक्ति था। वैसे तो उसे मूलचरित में घुसने का कोई काम न था, परन्तु संभवतः संवत् मात्र देने से समय का यह संकेत मूलकार को अधिक प्रभावक जान पड़ा।

सम्वत् १६२८ में रामगीतावली तथा कृष्णगीतावली का संग्रह हो जाने पर हनुमानजी ने गोसाईंजी को अयोध्या जाने की आज्ञा दी—

> जब सोरह से वसु बीस चढ्यो।
> पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ्यो॥
> तब मारुति ह्वै के प्रसन्न कह्यो।
> करि प्यान अवधपुर जाइ रह्यो॥

मकर-संक्रांति को गोसाईं जी प्रयाग में थे। इसके पीछे किसी समय वे अयोध्या पहुँचे होंगे। अयोध्या पहुँच कर उन्होंने रामचरितमानस लिखने के लिए बहुत समय तक योगस्थ होकर तैयारी की थी। सं० १६३१ के आरम्भ में उन्हें योगस्थ हुए दो वर्ष हो गये थे—

> जुग वत्सर बीत न वृत्ति डगी।
> इकतीस को संवत आइ लगी॥

अर्थात् उनके सं० १६२९ और १६३० योगस्थ रहकर बीते थे। अतएव १६२८ के अन्त में माघ फाल्गुन या चैत्र कृष्ण पक्ष में किसी समय वे अयोध्या पहुँचे होंगे।

यह अकबर का शासन-काल था। वह पंडितों का भी आदर करता था। परन्तु आईने अकबरी में उदय नामक किसी पण्डित ब्राह्मण का उल्लेख नहीं है। अतएव 'विप्र उदै' और 'साहिसभा' वाले 'उदय' एक ही व्यक्ति नहीं हैं। अकबर के साथ उदय का नाम लेते ही पहले पहल मेवाड़ के महाराणा उदय का ध्यान हो आता है। परन्तु अभी महाराणाओं के शाही दरबार में आने की नौबत नहीं आयी थी। अभी वह अवस्था उपस्थित नहीं हुई थी जिसे देखकर 'नायक' कवि ने कहा—

रज रही पंथन, रजाई रही सीतकाल,
राई रही राई ते, *रनाई रही भाट में।*

यह जानकर भी कि अकबर के विरुद्ध जय पाना कठिन है, महाराणा उदयसिंह ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की और अपने सामंतों की राय से चितौड़गढ़ को जयमल तथा पत्ता की रक्षा में छोड़ कर उन्होंने अरावली उपत्यका में सुरक्षित स्थान पर नवीन राजधानी 'उदयपुर' की स्थापना की। इससे गंग को यह कहने का अवकाश तो मिल गया—

राजे भाजे राज छोड़ि, रन छोड़ि रजपूत,
रौतो छोड़ि राउत, *रनाई छोड़ि रानाजू।*

फिर भी महाराणा इतने निंदनीय नहीं थे, जितना लोग समझते हैं। नैणसी उन्हें 'बड़ा उग्र तेजवाला' कहता है[1]। कम

---

[1] ख्यात ना० प्र० स० भाग १, पृ० ५६

से कम अकबर के दरबार के सम्मान को उन्होंने तुच्छ ही समझा। जिससे राणावंश बादशाही प्रलय में अक्षयवट-पत्र बना रहा—

> बढ़ी पातसाही ज्योंही सलिल प्रलै के बढ़े,
> बूड़े राजा-राव पै न कीन तेग खर को।
> देन लगे नवल दुलहिया नवरोजन मैं,
> नीठि-नीठि पीछे मुख हेरे आनि घर को॥
> वाही तरवारि बादसाहन सों कीन्ही रारि,
> भनै 'परसाद'[1] अवतार साँचो हर को।
> दुहूँ दीन जाना जस अकह कहा 'ना'
> ऐसे ऊँचे रहे राना जैसे पात अछैवर को॥

महाराणा उदयसिंह की मृत्यु संवत् १६२८ के फाल्गुन की पूर्णिमा (२८ फरवरी सन् १५७२ ई०) को हुई[2]। हो सकता है कि अकबर ने उनके उत्तराधिकारी को प्रसन्न करने की गरज से इस अवसर पर उदयसिंह के सम्मानार्थ कोई बड़ा भारी दरबार किया हो। यह तो प्रसिद्ध ही है कि अकबर ने वीर सैनिक जयमाल और पत्ता की संगमरमर की विशाल मूर्तियाँ बनवायी थीं। हो सकता है कि उन मूर्तियों का भी इस अवसर से कुछ

१ 'परसाद' कवि 'सरोज' के अनुसार सं० १६०० में उत्पन्न, पृ० ४४४ और ७२।

२ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा—उदयपुर का इतिहास पृ० ४२१

सम्बन्ध हो। अकबर गुणग्राही और राजनीति-कुशल था. यह बात तो सभी जानते हैं। गोसाईं जी के लिए महाराणा के प्रति यह सम्मान प्रदर्शन बहुत रुचिकर हुआ होगा। उन्हें भी बादशाही दरबार में जाना अच्छा नहीं लगता था। अकबर की ओर से उन्हें दरबार में बुलाने का प्रयत्न अवश्य हुआ होगा। अकबर सब गुणी तथा महात्माओं के सम्मान द्वारा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता था। सूरदास जी का नाम उसके मनसबदारों में लिखा है। संभवतः मानसिंह आदि गोसाईं जी के किसी श्रद्धालु के द्वारा वे आमंत्रित किये गये थे। परन्तु उन्होंने यह कह कर अस्वीकार कर दिया—

हम हैं चाकर राम के पटौ लिख्यो दरबार।
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार[1] ?

अतएव हिंदुत्त्व की मर्यादा रक्षण के प्रयासी गोसाईं जी को बादशाही प्रलय में महाराणा की बटपत्रता स्वभावतः बहुत पसन्द आयी होगी। और उसके साथ-साथ अकबर की बुद्धिमत्ता अथवा गुण-ग्राहकता भी। प्रताप के महा तेजस्वी जीवन-काव्य (राज्य-काल) और गोसाईं जी के महाकाव्य का उपक्रम

---

१ गोसाईं जी के कुछ दोहे सग्रहीत नहीं है किंतु परपरा से चले आते हैं। उनमें से यह भी एक जान पड़ता है। यह दोहा कविवर मैथिलीशरण जी गुप्त के पिता जी को बहुत प्रिय था। देखो 'साकेत' का समर्पण पत्र।

एक ही दिन हुआ कहा जा सकता है, इस बात को गोसाईं जी बहुधा कहते रहे होंगे। वेणीमाधव दास ने भी यह बात सुनी होगी। यदि यह अनुमान सत्य है तो किसी समय चैत्र कृष्ण पक्ष (सं० १६२८) में ही यह सम्मान-प्रदर्शन हुआ होगा। क्योंकि उसी समय अकबर के पास उदय सिंह की मृत्यु का समाचार पहुँच सकता था। और हम देख आये हैं कि गोसाईं जी इसी वर्ष के अन्त में माघ, फाल्गुन या चैत्र कृष्ण पक्ष में किसी दिन अयोध्या पहुँचे होंगे। इस प्रकार इस घटना के सत्य होने में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई बाधा नहीं दिखायी देती।

दो उदय सिंह और हैं जिनके सम्बन्ध में यह कथन घटित हो सकता है। एक जयमल का पुत्र उदय सिंह और दूसरे मारवाड़ के राजा उदय सिंह जो मोटा राजा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जयमल की मृत्यु पर उसकी युवती स्त्री (मोटा राज की पुत्री) सती होना नहीं चाहती थी। जयमल का पुत्र उदय सिंह उसे चिता पर जलने के लिए मजबूर कर रहा था। अकबर को यह खबर लगी तो वह उसे छुड़ाने के लिए ठीक समय पर पहुँच गया। जगन्नाथ और रायसाल उदय सिंह को अकबर के पास पकड़ लाये। अकबर ने उसे कैद कर लिया[1]। यह घटना भारत भर में प्रसिद्ध हुई होगी। परम्परा गत धर्म के मार्ग को चलता रखने के प्रयत्न में बंदी होने वाला उदयसिंह साधु-

---

१ ब्लाकमन—आइने अकबरी पृ० ४२८

समाज में साक्षात् धर्मावतार समझा गया होगा। संभवत उसका बंदी होना ही उसका सम्मान समझा गया हो, जैसे आज दिन सत्याग्रह करके जेल जाना समझा जाता रहा है। यह भी हो सकता है कि इस उदयसिंह को एक बार कैद कर फिर उसे खुश करने के लिए अकबर ने खुले दरबार में उसका सम्मान करना उचित समझा हो। क्योंकि उसका उद्देश्य सती प्रथा को बन्द करना था, अपने एक सामंत को अपना विरोधी बनाना नहीं। परन्तु इस घटना का सं० १६२८ में घटित होना सम्भव नहीं जान पड़ता। क्योंकि मोटा राजा का जन्म सं० १५९४ की माघ सुदी १२ को हुआ था। १६२८ में उनकी अवस्था लगभग ३४ वर्ष की रही होगी। उस समय तक उनकी विवाह के योग्य भी कोई पुत्री न रही होगी। यद्यपि हमारे समाज की दशा को देखते हुए यह बिलकुल असंभव भी नहीं मालूम होता। परन्तु मुझे इस बात की कम सम्भावना मालूम होती है कि मूल चरित का अभिप्राय इस उदय सिंह से हो।

जो उदय सिंह आगे चल कर 'मोटा राजा' के नाम से प्रसिद्ध हुए, वे मारवाड़ के राजा माल देव के पुत्र थे। सरोजकार के अनुसार ये कवि भी थे, इन्होंने 'ख्यात' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें 'अपने पुत्र गज सिंह' और 'पोते यशवंत सिंह के जीवन चरित्र लिखे हैं', जो अजीब-सा लगता है। इनका अकबर के दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध था। ज्येष्ठ होने पर भी इनकी

उपेक्षा करके गद्दी छोटे भाई चन्द्र सेन को दी गई थी। चन्द्र सेन स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति था। अकबर जब अजमेर जाने को हुआ तो उसने उधर के सब राजा-उमरावों को अधीनता स्वीकार करने को बुलाया। पर इस अवसर पर चन्द्र सेन न आये। अकबर का महत्व दिखाने के लिए अबुलफजल ने इसके विरुद्ध 'अकबर नामा' में इस समय चन्द्र सेन का आना लिखा है[1]। परन्तु मारवाड़ के भारतीय इतिहास लेखक इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हैं। श्रीयुत जगदीश सिंह गहलोत ने लिखा है कि 'इन्होंने अकबर की मरते दम तक अधीनता स्वीकार नहीं की[2]।' श्रीयुक्त विश्वेश्वर नाथ जी रेऊ का भी यही मत है। वस्तुत: चन्द्र सेन नहीं, उनके बड़े भाई उदय सिंह अपनी किस्मत आजमाने के लिए इस समय दरबार में आये थे। प्रताप के विरुद्ध उकसाने के लिए अकबर ने जिस प्रकार जगमाल को अपने यहाँ मान दिया, उसी प्रकार चन्द्र सेन के विरुद्ध खड़ा करने के लिए उदय सिंह को भी सम्मानित किया। अबुलफजल के अनुसार बादशाह ने शाही अनुग्रह के साथ चन्द्र सेन का स्वागत किया (ही वाज् रिसीव्ड् विथ रॉयल फेवर्स)[3]। असल में यह अनुग्रह पूर्ण सम्मान उदय सिंह

१ बेवरिज—अकबरनामा, भा० १ पृ० ५७

२ मारवाड़ का इतिहास पृ० १३१

३ बेवरिज भा० १ पृ० ५१८

का हुआ था, चन्द्र सेन का नहीं। यह घटना नागौर की है। अजमेर जाते समय अकबर १५ नवम्बर १५५० ई० को (सं० १६२६) वहाँ पहुँचा था; और अजमेर से लौटते हुए १७ सितम्बर १५७२ (सं० १६२८) को उसने वहाँ खेमा डाला था[१]। श्रीयुत रेऊ जी ने लिखा है कि अजमेर से लौटते समय देशी नरेश अकबर को मिलने आये थे[२]। वस्तुतः उस समय उसके पास काफी अवकाश भी था। वह वहाँ कुछ महीने ठहरा भी था। सम्भवतः गोसाईं जी के अयोध्या पहुँचने तक ठहरा हो।

परन्तु अधिक सम्भावना यही है कि मूलकार का तात्पर्य इन 'उदय' से भी न होकर महाराणा उदय से ही हो। जो हो, इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि मूल-चरित का यह कथन निराधार नहीं है।

इस प्रकार इन दो तीन दृष्टांतों से पता चलता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से मूल चरित एकाएक अविश्वसनीय नहीं है। इस लेख में सब नामों का विचार नहीं किया जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि और भी जितने व्यक्तियों के नाम मूल गोसाईं चरित्र में आये हैं, उनमें से जितनों के सम्बन्ध में हम कुछ जानते हैं, सब तुलसीदास के समकालीन हैं। यह सम्भव

---

१ वही पृ० ५४४

२ सरस्वती भाग ३१, सं० ६ (जून १९३०) पृ० ७११

है कि कोई व्यक्ति तुलसीदास को कई साल बाद मिला हो और मूल चरित ने कई साल पहले उन्हें मिला दिया हो यह भो सम्भव है कि कोई व्यक्ति गोसाईं जी का समकालीन मात्र हो कभी गोसाईं जी से मिला भी न हो और 'मूल' मे उससे गोसाईं जी के चरणों में मस्तक रखवा दिया गया हो, परन्तु चमत्कारों को छोड़ कर ऐतिहासिक तथ्य से शून्य बातें उसमें कम मिलेंगी। फिर वेणीमाधव दास से आजकल के अर्थ में इतिहास की आशा करना व्यर्थ है। वह इतिहास नहीं पुराण लिख सकते थे जिससे यदि कोई प्रयत्न पूर्वक ढूँढ़े तो इतिहास ढूँढ़ निकाला जा सकता है। अपने गुरु का माहात्म्य कहने का ही उन्हें सबसे अधिक खयाल हो सकता था। जीवनी लिखने का कम। यदि 'सरोज' का विश्वास किया जा सके तो वे ऐसो स्थिति में थे भी नहीं कि सब अपनी आँखों देखी बातें कह सकते। 'सरोज' के अनुसार उनका जन्म १६२५ में और मृत्यु १६९९ संवत में हुई थी।[1] होने को तो न जाने क्या-क्या हो सकता है किन्तु सामान्य दशाओं में १६७० से १६८० तक ही वे गोसाईंजी के साथ रहे होंगे। मूलचरित मे भी एक जगह 'वेणीमाधव' नाम का उल्लेख मालूम पड़ता है—'इमि जादव माधव बेनि उभय।' जादव और माधव दोनों के साथ वेणी है। वेनीजादव और वेनीमाधव दोनों कई लोगों के

---

१ शिव सिंह सरोज, पृ० ४३२

साथ गोसाईंजी को मिलने गये थे। यह घटना १६०९ सं० के कुछ ही बाद की है। परन्तु इसका कहीं उल्लेख नहीं है कि ये सब गोसाईंजी के शिष्य हुए थे अथवा ये और गोसाईंजी के शिष्य वेणीमाधवदास एक ही व्यक्ति हैं भी कि नहीं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने अपनी आँखों देखी बातों का वर्णन किया है। अतएव यदि मूलचरित में ऐतिहासिक तथ्यता हमे न भी मिले तो भी हम उसे अप्रमाणिक नहीं कह सकते। ऐतिहासिक तथ्यता एक बात है और ग्रन्थ की प्रामाणिकता दूसरी बात। यदि अभिप्राय विशेष से कोई ग्रन्थ खोज निकाला गया हो तो उसकी ऐतिहासिक तथ्यता भी उसे प्रामाणिक नहीं बना सकती। और प्रामाणिक ग्रन्थों में भी ऐतिहासिक तथ्य की गलतियाँ हो सकती हैं। इसलिए यह देखना चाहिए कि मूलचरित में ऐसी तो कोई बात नहीं है जो उसके जाली होने की ओर संकेत करे!

आधुनिकता

जब नागरी-प्रचारिणी पत्रिका मे मूलचरित प्रकाशित हुआ था तो स्व० पं० श्रीधर पाठक को संदेह हुआ था कि प्रकाशित होने के पहले उसमे कुछ संशोधन किये गये हैं ॐ। नीचे लिखी पंक्तियों में उन्हें 'आधुनिकता की आभा' दिखायी दी—

ॐ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, अंक १, पृ० ८४

दिन राति सदा रँग राते रहैं, सुख पाते रहैं, ललचाते रहैं॥
चरणों पै पड़े चरणोदक लै, अपराध कराइ क्षमा घर गे॥

इनके कुछ 'सजातीय अन्य उदाहरण' भी नीचे दिये जाते हैं—

कहि देव बुलाहट है घर नें॥ ३॥ पृ० २१९
जब माय खवाय लला टरलीं॥ ७॥ पृ० २२१
विदा करा दुलही चले पंडितराज महान ॥१०॥ पृ० २२४
एक संत मिले कहने तो लगे॥ २४॥ ३०, २३२

- बा० श्यामसुन्दरदासजी ने शुद्ध पाठ को प्राप्त करने में कोई चाव उठा न रखी[२]। फिर भी खड़ी बोली की यह हलकी-सी पुट उसमें से गयी नहीं। इससे 'आधुनिकता की आभा' मूल-चरित कोया तो स्वयं 'मूल'-कार की दी हुई है चाहे 'मूल'-कार बाबा वेणीमाधवदास ही हों अथवा कोई आधुनिक व्यक्ति या किसी ऐसे व्यक्ति की जिसकी पहुँच 'मूल' की किसी उस प्रतिलिपि तक थी जिसके आधार पर वे प्रतिलिपियाँ की गयी हैं जिन पर से नवलकिशोर प्रेस ने अपनी रामायण में और *ना० प्र० सभा ने अपनी पत्रिका में मूलचरित को छापा है।* मूल-चरित-कार अच्छा कवि नहीं है, हो सकता है कि काव्यकौशल

---

२ वही, पृ० ४९, ५०, ५१ सबसे प्राचीन प्रति के अनुसार मूल चरित का शुद्ध पाठ हिंदुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित 'गोस्वामी तुलसी दास' के परिशिष्ट २ में दिया गया है।

के अभाव से ही मूलचरित की भाषा मिश्रित हो। रमते-साधुओं में बहुत प्राचीन काल से खड़ीबोली का प्रचार चला आ रहा है जिसका उनके ही कारण एक रूप 'सधुकड़ी हिंदी' कहाने लगा है। अतएव यदि साधु का काव्य की भाषा पर अधिकार न हुआ तो सहज ही उसकी कविता मे खड़ीबोली आ जायगी।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

किंतु इससे भी प्रबल एक दूसरा प्रमाण है जिससे मूल गोसाईंचरित की प्राचीनता में बड़ा संदेह हो जाता है। रामचरितमानस की रचना समाप्त कर जब गोसाईंजी काशी आये तो सबसे पहले उन्होंने माता अन्नपूर्णा और विश्वनाथ जी को उसे सुनाया। पाठ समाप्त कर उन्होंने पुस्तक को रात में शिवलिंग के निकट रख दिया। प्रातःकाल जब सब लोग मंदिर मे जुटे तो उन्होंने देखा कि महादेव जी ने उस पर "सत्यं शिवं सुन्दरम्" लिखकर अपनी सही कर दी थी लोगों को यही शब्द सुनायी भी दिया—

> पोथी पाठ समाप्त के के धरे
> सिव लिंग ढिग रात में।
> मूरख पंडित सिद्ध तापस जुरे
> जब पट खुलेउ प्रात में॥

देखिन विरचित दृष्टि वे सब
जने, कीन्हौं सही संकरम्।
दिव्यापर सों लिख्यौ, पढ़ै धुनि
सुने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'॥
६. ४८ पृ० २३९

सत्रहवीं शताब्दी के किसी भी लेखक के ग्रन्थ में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मिलना आश्चर्यजनक है। कुछ दिनों तक हिंदी में इस शब्दावली का उपनिषद्-वाक्य की भाँति व्यवहार होता रहा है। परंतु विद्वानों की सम्मति में यह शब्दावली बहुत आधुनिक है, और अँगरेज़ी के दि ट्रू, दि गुड ऐंड दि ब्यूटिफुल् का उपनिषदी अनुवाद है। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में लिखा है कि रवींद्र बाबू के पिता, ब्रह्मसमाजी महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इस शब्दावली का प्रचलन किया है। स्व० राजेंद्र विद्याभूषण कहा करते थे कि इस पदावली का पहले-पहल प्रयोग ब्रह्म-समाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय के ग्रन्थों में मिलता है। कुछ भी हो इतना निश्चय है कि आधुनिक काल में इस पदावली का एक साथ प्रयोग ब्रह्मसमाज से आरंभ हुआ है। ब्रह्मसमाज का जन्म भारत में ईसाइयत की बाढ़ को रोकने के लिए हुआ था। ईसाई-धर्म की जो बातें लोगों को आकर्षित कर रही थीं उन्हें उसने अपने हीं यहाँ बतलाने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उसने सबसे प्रधान

आसरा उपनिषदों का लिया है। परन्तु अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने कुछ ईसाई भावों को भी अपनाया है, जिनमें से कहा जाता है कि सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी एक है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मूल भाव भारतीय दार्शनिक साहित्य में हैं ही नहीं। जैसे ईसाई विचारधारा मे 'दि ट्रू, दि गुड और दि ब्यूटिफुल' तथा चैरिटी (दि गुड), फेथ (दि ट्रू) और होप (दि ब्यूटिफुल्) की त्रिपुटी है, वैसे ही हमारे यहाँ भी ब्रह्म का त्रिविध निर्देश है। गीता मे उसे 'ॐ तत्सत्' कहा गया है। सत् में साधु भाव का भी समावेश है—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।

त्रिविधता की निदर्शक अन्य कई पदावलियों का प्रयोग हमारे यहाँ मिलता है। शान्तं शिवमद्वैतम् (मुण्डक ७) शिवं प्रशांतममृतम् (कैवल्य ६) परंतु इनमें सत्यं शिवं सुन्दरम् के शिव ही का दर्शन होता है। सत्यं और शिवं का अलग अलग कई स्थानों में योग मिलता है—सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म (सर्वो पनिषत्सार ३। शिवम् के दो उदाहरण अभी ऊपर दिये जा चुके हैं। नृसिंहोत्तर तापिनी में भी लिखा है—शिवं शान्तम् (नृ० १) और नृसिंह पूर्वतापिनी मे शिवमद्वैतम्। गीता में

शिव तो नहीं आया है किन्तु समानार्थक (कल्याणकर) शंकर आया है— रुद्राणां शङ्करश्चास्मि (१०, २३)। ब्रह्म स्पष्ट शब्दों में सुकृत अथवा सुकर्ता (गुड-शिव) भी कहा गया है—असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्सुकृतमुच्यते ।—(मांडूक्य अनु० १) यो वै रुद्र........यच्च सत्यम् में रुद्र और सत्य साथ-साथ आये हैं। (अथर्व शिरस्, २)। और शिव भी रुद्र का ही एक रूप है। परंतु प्राचीन दार्शनिक साहित्य में 'सुन्दरम्' का अलग प्रय ग नहीं मिलता। संभवतः 'आनंदम्' इस भाव का द्योतन कर सके। ऊपर भी आनंदम् का ब्रह्म परक उल्लेख हो चुका है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को 'आनंदम्' और आनंदमयम्' माना है—'एतमानंद मयमात्मानमुपसंक्रामति' तथा 'आनंद ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन (ब्रह्मवल्ली, आनंद मीमांसा ९), आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनंदेन जातानि जीवन्ति आनंदं प्रत्यंत्यभिसंविशंति। (भृगुवल्ली, ६) 'सुन्दरम्' में रूप ग्रहण और 'आनंदम्' में तल्लीनता (अनुभूति) की ओर अधिक ध्यान जाता है। परंतु फिर भी ये बहुत भिन्न नहीं हैं। अंगरेजी मे भी सौंदर्य और आनंद का एकत्व माना जाता है। कीट्स ने कहा था—

"ए थिंग ऑफ ब्यूटी इज ए ज्वाइ फॉर-इवर" सौंदर्य में आनन्द का नित्यस्वरूप निहित है। गीता में भी भगवान ने कहा

है कि जो जो पदार्थ विभूतियुक्त, शोभायुक्त और शक्तियुक्त हैं, उन्हें मेरे अंश से उत्पन्न समझो—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम्। १०, ४१

परन्तु 'दिव्यम्' जिसका प्रयोग मुण्डक में हुआ है संभवतः आनन्द की अपेक्षा "सुन्दरम्" के अधिक निकट है—

यथा नद्यस्स्यन्दमानास्समुद्रे,
अस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय।
यथा विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

मुण्डक ३, २, ८

परन्तु सत्यं शिवं सुन्दरम् के निकटतम का सर्व-प्रिय प्रयोग संभवतः 'सच्चिदानन्द' है। इस दृष्टि से इससे भी अच्छा प्रयोग जो इतना सर्वप्रिय नहीं है, 'अस्ति भाति प्रियम्' है। उसे मधुसूदन सरस्वती की अद्वैत सिद्धि की टीका (लघुचन्द्रिका) की टीका में विट्ठलेशोपाध्याय ने किसी अन्य ग्रन्थ से उद्धृत किया है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकः
आद्य त्रयम् ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयम्।

प्रत्येक वस्तु में पाँच अंश प्रतीत होते हैं। अस्ति भाति, प्रिय रूप और नाम। पहले तीन ब्रह्म के रूप हैं और शेष दो जगत् के।

क्रोचे ने जबसे साहित्यिक समालोचना के क्षेत्र में आध्यात्मिक सिद्धांत का प्रवेश किया तबसे कला के निर्णय में 'सत्य शिवं सुन्दरम्' की रट अति को मात्रा को पहुँच चुकी है। परंतु प्राचीनकाल में भी साहित्यिक-आलोचना-विज्ञान में इसका अभाव न था। साहित्यिक सिद्धान्तों की पुष्टि तथा अभिनन्दन के लिये प्राचीनकाल में भी दार्शनिक पदावली का प्रयोग किया जाता था। तैत्तरीय के 'रसोवैसः' का प्रयोग हमारे प्राचीन साहित्यिक वाद-विवादों में भी होता रहा है। सांख्य और वेदांत को प्राचीन आचार्य अपने सिद्धांतों की पुष्टि में पेश किया करते थे। काव्य-रस का 'ब्रह्मानन्द' सहोदर' माना जाना तो प्रसिद्ध ही है।

अतएव यह भी बिल्कुल असंभव नहीं कि 'सत्यं शिवं सुंदरम्' भी उतना ही प्राचीन हो जितने स्वयं बाबा वेणीमाधवदास, परंतु और जगह कहीं भी दार्शनिक अभिव्यञ्जना अथवा साहित्यिक समालोचना के क्षेत्र में उसका प्रयोग न होता देखकर दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता कि बात ऐसी ही थी। सत्रहवीं शताब्दि की लिखी नित्य पाठ की किसी पोथी में 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जैसी पदावली प्रयुक्त हो और उसके प्रचार के लिये दो शताब्दी बाद ब्रह्मसमाज के महारथियों को उसका फिर से आविष्कार करना पड़े! यदि यह सत्य है तो बड़ी आश्चर्यजनक बात है। यदि यह ग्रंथ किसी बने हुये वेणीमाधवदास का नहीं है तो

सचमुच महत्वपूर्ण है उतना महत्व उसका गोस्वामी जी की जीवनी होने के कारण नहीं जितना "सत्य शिवं सुन्दरम्' सदृश पदावली पर से ईसाइयत की छाप को हटाने के कारण परन्तु इस हेतु-हेतु मद्भाव को कृयातिपत्ति में परिवर्तित होने से बचाने का मेरे पास कोई साधन नहीं है। यदि केवल 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' वाला ही अंश प्रक्षिप्त अथवा परिवर्द्धित मान लिया जाय तो बात ही दूसरी है; यद्यपि यह मानने के लिये मेरे पास कोई स्वतंत्र कारण नहीं है।

हाँ, इतना मैं बे-हिचक कह सकता हूँ कि मूलचरित-गुसाईं जी संबंधी परंपरागत श्रुतियों का और उस काल से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का भी बहुत अच्छा संग्रह है। इसके लिये गुसाईं जी के शिष्य बाबा वेणीमाधवदास हमारे धन्यवाद के भाजन हैं या नहीं इसका अन्तिम निर्णय मैं अपने से योग्य व्यक्तियों के लिये छोड़ देता हूँ और उनको मैं इस काम में सहायता पहुँचाने के लिये कनक भवन अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायक जी, उन्नाव के पं० रामकिशोर शुक्ल वकील तथा मरूव श्रोवरा गया के पं० रामधारी पाण्डेय को विशेष रूप से आमंत्रित करता हूँ जो इस ग्रंथ को प्रकाश में लाने के साधन बनकर हम सबके धन्यवाद के भाजन हुये हैं।

काशी विद्यापीठ से प्रकाशित पुस्तकें

१.	पश्चिमी यूरोप	२।)
२.	ग्रीस और रोम के महापुरुष	३।।।)
३.	हिन्दू भारत का उत्कर्ष या राजपूतों का प्रारम्भिक इतिहास	३।।)
४.	अंग्रेज जाति का इतिहास (द्वितीय संस्करण)	२।)
५.	इब्नबतूता की भारत यात्रा	२)
६.	अफलातून की सामाजिक व्यवस्था	१।=)
७.	अभिधर्म कोष	५)
८.	मनुपादानुक्रमणी	।।।)
९.	जापान-रहस्य	१।।)
१०.	सौन्दर्य विज्ञान	।।।)
११.	राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास	२)
१२.	भारत का सरकारी ऋण	१=)
१३.	Cosmogony in Indian thought.	।।)
१४.	Essential unity of all Religions.	३)
१५.	योग-सूत्र भाष्य-कोष	३)
१६	मानवार्षभाष्य	३।।)
१७.	मानव-धर्म-सार (द्वितीय संस्करण)	२)

हिन्दी शब्द-संग्रह

(नूतन परिवर्धित, तृतीय संस्करण)

[*सम्पादक—श्री मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव तथा श्रीराजवल्लभ सहाय*]

इसमें प्राचीन हिन्दी कवियों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा, अवधी, बुन्देलखण्डी इत्यादि शब्दोंके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी साहित्य-में प्रचलित हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी, इत्यादि भाषाओंके शब्दोंका भी संग्रह किया गया है। अप्रचलित शब्दोंका अर्थ स्पष्ट करनेके लिए विभिन्न पुस्तकोंका सहारा लिया गया है। विभिन्न ग्रन्थोंसे हजारों उदाहरण दिये गये हैं। इस संस्करण-में पाँच हजार शब्द बढ़ा दिये गये हैं।

मूल्य सजिल्द ७॥) मात्र

अजिल्द ७) „

यवनों का भारत

(ले० प्रो० भगवती प्रसाद पान्थरी)

इतिहास के सम्बन्ध में खोजपूर्ण पुस्तक है। इसमें विद्वान् लेखक ने ड़ी दूर-दूर से यात्रा करके मसाले का समग्र किया है। इतिहास के ।ार्थियों के बहुत लाभ की पुस्तक होगी।

भारत के प्रसिद्ध और निर्णायक युद्ध

(लेखक– प्रो० भगवती प्रसाद पान्थरी)

इस पुस्तक में लेखक ने वैदिक युग (४००० ई० पूर्व) के सिद्ध युद्धों से प्रारम्भ कर सन् ११९२ ई० तक के युद्धों का वर्णन ।या है। इसमें उस समय के बदलते युद्ध-कौशल और शास्त्र पर दीप प्रकाश डाला है। इतिहास और खोज के विद्यार्थियों के लिये ह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

वर्तमान मुस्लिम जगत

ले०—मुहम्मद हबीब, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी के
इतिहास विभाग के अध्यक्ष